ISSN NUMBER : 2455-9717

RNI NUMBER :- MPHIN/2016/67929

वर्ष : 4, अंक : 15

अक्टूबर-दिसम्बर 2019

मूल्य 50 रुपये

शिवना साहित्यिकी

बच्चा / भगवत रावत

अलमुनियम का वह दो डिब्बों वाला कटोरदान
बच्चे के हाथ से छूट कर
नहीं गिरा होता सड़क पर
तो यह कैसे पता चलता
कि उनमें चार रूखी रोटियों के साथ-साथ
प्याज की एक गाँठ और दो हरी मिर्चें भी थीं

नमक शायद रोटियों के अंदर रहा होगा
और स्वाद
किन्हीं हाथों और किन्हीं आँखों में
ज़रूर रहा होगा
बस इतनी-सी थी भाषा उसकी
जो अचानक फूट कर फैल गई थी सड़क पर

यह सोचना बिल्कुल बेकार था
कि उस भाषा में कविता की कितनी गुंजाइश थी
या यह बच्चा
कटोरदान कहाँ लिए जाता था

शिवना प्रकाशन - नई पुस्तकें

देह
उपन्यास
अंचला नागर

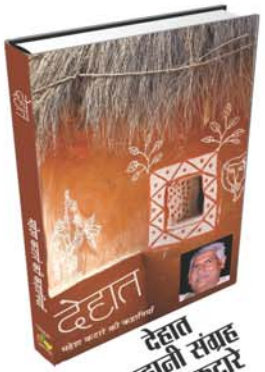

देहात
कहानी संग्रह
महेश कटारे

नाच-गान
कहानी संग्रह
डॉ. उर्मिला शिरीष

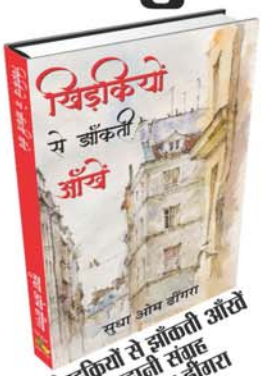

खिड़कियों से झाँकती आँखें
कहानी संग्रह
सुधा ओम ढींगरा

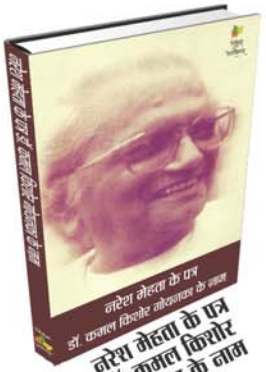

नरेश मेहता के पत्र
डॉ. कमल किशोर
गोयनका के नाम

प्रेम की उम्र के चार पड़ाव
कविता संग्रह
मनीषा कुलश्रेष्ठ

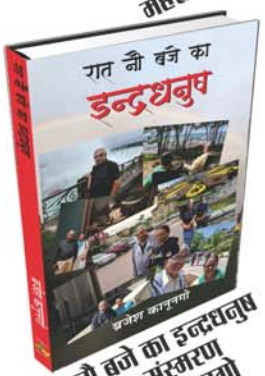

रात नौ बजे का इन्द्रधनुष
यात्रा-संस्मरण
राजेश कानूनगो

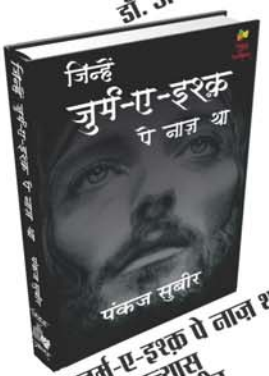

जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था
उपन्यास
पंकज सुबीर

प्रवास में आसपास
कहानी संग्रह
डॉ. हंसा दीप

पुकारती हैं स्मृतियाँ
कविता संग्रह
आनंद पचौरी

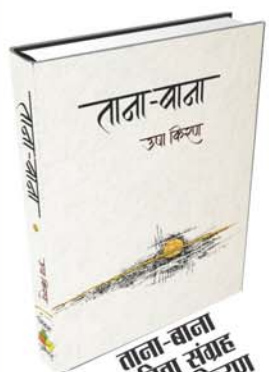

ताना-बाना
कविता संग्रह
डॉ. उषा किरण

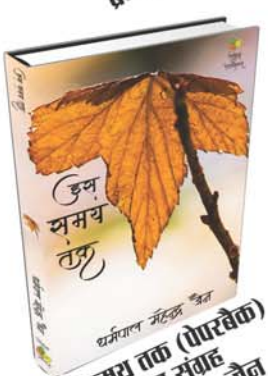

इस समय तक (पेपरबैक)
कविता संग्रह
धर्मपाल महेन्द्र जैन

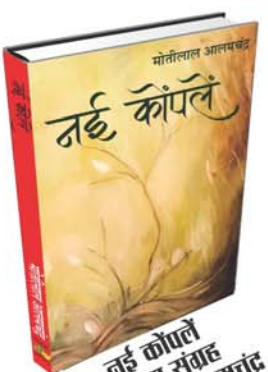

नई कोंपलें
कविता संग्रह
मोतीलाल आलमचंद

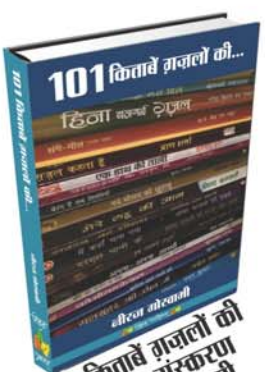

101 किताबें ग़ज़लों की
पेपरबैक संस्करण
नीरज गोस्वामी

ढेर टेग ज़िंदगी
कविता संग्रह
श्याम चंदेले

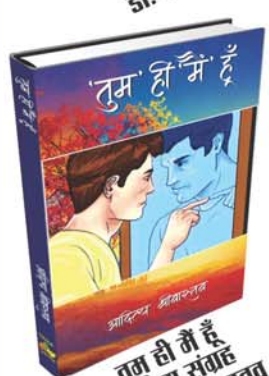

तुम ही मैं हूँ
कविता संग्रह
आदित्य श्रीवास्तव

दिलफ़रेब
ग़ज़ल संग्रह
राजकुमार कोरी राज

मैं नास्तिक हूँ
उपन्यास
राजेश सोनवार

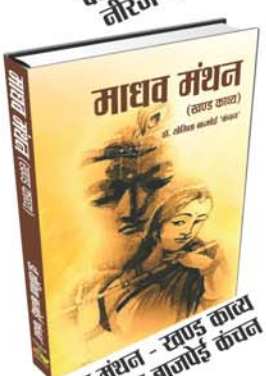

माधव मंथन - खाड़ी काव्य
डॉ. सोनिता बाजपेई कंचन

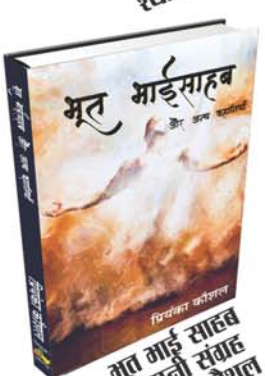

भूत भाई साहब
कहानी संग्रह
प्रियंका कौशल

शिवना प्रकाशन
शिवना प्रकाशन, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट
कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने
सीहोर, मध्य प्रदेश 466001
फोन : 07562-405545, 07562-695918
मोबाइल : +91-9806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com
http://shivnaprakashan.blogspot.in
https://www.facebook.com/shivna.prakashan

शिवना प्रकाशन
की पुस्तकें सभी प्रमुख
ऑनलाइन शॉपिंग
स्टोर्स पर

amazon
http://www.amazon.in
flipkart.com
http://www.flipkart.com
paytm
ebay
https://www.paytm.com
http://www.ebay.in

दिल्ली में पुस्तकें प्राप्त करें : हिन्दी बुक सेंटर, 4/5 आसफ अली रोड
फोन : 011-23286757 http://www.hindibook.com

शिवना साहित्यिकी

वर्ष : 3, अंक : 15

त्रैमासिक : अक्टूबर-दिसम्बर 2019

RNI NUMBER :- MPHIN/2016/67929

ISSN : 2455-9717

संरक्षक एवं
सलाहकार संपादक
सुधा ओम ढींगरा

●

प्रबंध संपादक
नीरज गोस्वामी

●

संपादक
पंकज सुबीर

●

कार्यकारी संपादक
शहरयार

●

सह संपादक
पारुल सिंह

●

छायाकार
राजेन्द्र शर्मा

●

डिज़ायनिंग
सनी गोस्वामी

●

संपादकीय एवं व्यवस्थापकीय कार्यालय
पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6
सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट
बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र. 466001
दूरभाष : 07562405545
मोबाइल : 09806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivnasahityiki@gmail.com
ऑनलाइन 'शिवना प्रकाशन'
http://shivnaprakashan.blogspot.in
फेसबुक पर 'शिवना प्रकाशन'
https://facebook.com/shivna prakashan

●

एक प्रति : 50 रुपये,
(विदेशों हेतु 5 डॉलर $5)
सदस्यता शुल्क
1500 रुपये (पाँच वर्ष), 3000 रुपये (आजीवन)
बैंक खाते का विवरण : Name: Shivna Sahityiki
Bank Name: Bank Of Baroda, Branch: Sehore (M.P.)
Account Number: 30010200000313
IFSC Code: BARB0SEHORE

संपादन, प्रकाशन एवं संचालन पूर्णत: अवैतनिक, अव्यवसायिक। पत्रिका में प्रकाशित सामग्री लेखकों के निजी विचार हैं। संपादक तथा प्रकाशक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं है। पत्रिका में प्रकाशित रचनाओं में व्यक्त विचारों का पूर्ण उत्तरदायित्व लेखक पर होगा। पत्रिका जनवरी, अप्रैल, जुलाई तथा अक्टूबर माह में प्रकाशित होगी। समस्त विवादों का न्याय क्षेत्र सीहोर (मध्यप्रदेश) रहेगा।

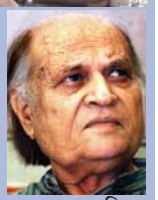

आवरण कविता
भगवत रावत

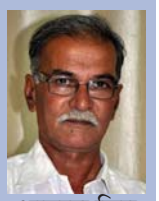

आवरण चित्र
राजेन्द्र शर्मा

इस अंक में

कुछ यूँ...
आवरण कविता / भगवत रावत
संपादकीय / शहरयार / 4
व्यंग्य चित्र / काजल कुमार / 5
साक्षात्कार
गीताश्री से पारुल सिंह की बातचीत / 6
पुस्तक चर्चा
हिंदी वृहद् व्याकरण कोश
सचिन तिवारी / डॉ. के.आर. महिया एवं डॉ. विमलेश शर्मा / 16
कहाँ हो तुम / डॉ. रामसिया शर्मा / भावना भट्ट / 22
काव्य मंजरी / संदीप सरस / सुरेश सौरभ / 24
उपनिषद की कहानियाँ / सचिन तिवारी / डॉ. पन्ना प्रसाद / 27
पुस्तक समीक्षा
मन्नत टेलर्स
वंदना वाजपेयी / प्रज्ञा / 13
ग़ाफ़िल
प्रकाश कांत / सुनील चतुर्वेदी / 17
पालतू बोहेमियन
कमलेश पाण्डेय / प्रभात रंजन / 19
झरोखा
अपर्णा भटनागर / पंकज त्रिवेदी / 20
चौधराहट
नीलोत्पल रमेश / जयनंदन / 21
कितने अभिमन्यु
वेदप्रकाश अमिताभ / योगेंद्र शर्मा / 23
जागती आँखों का सपना
डॉ. रमाकांत शर्मा / मंजुश्री / 25
कच्चा रंग
डॉ. अनीता कपूर / डॉ. पल्लवी शर्मा / 28
नव अर्श के पाँखी
सुभाष काबरा / अनुपमा श्रीवास्तव अनुश्री / 29
यादों के दरीचे
माधुरी / प्रभाशंकर उपाध्याय / 30
चुप्पियों के बीच
नीरज नीर / डॉ. भावना कुमारी / 35
शोध आलेख
गांधी की पत्रकारिता का भारतीय मॉडल
डॉ. कमल किशोर गोयनका / 31
फ़िल्म समीक्षा
मेकिंग आफ महात्मा
वीरेन्द्र जैन / निर्देशक: श्याम बेनेगल / 36
केंद्र में पुस्तक
जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था
पंकज पराशर, मनीषा कुलश्रेष्ठ, शुभम तिवारी,
ब्रजेश राजपूत, कविता वर्मा, दिनेश पाल
लेखक : पंकज सुबीर / 38

संपादकीय

गांधी के एक सौ पचास बरस

शहरयार

एक प्रश्न बार-बार सामने आता है कि क्या होता अगर गांधी का जन्म नहीं हुआ होता, या गांधी इस प्रकार महामानव के रूप में सामने नहीं आए होते ? भारतीय जनमानस पर गांधी का प्रभाव पिछले सौ से भी अधिक वर्षों से सबसे ज़्यादा रहा है। किसी भी अन्य नायक की तुलना में कहीं ज़्यादा। लेकिन अब यह भी हो रहा है कि गांधी का विरोध करने वाली शक्तियाँ अधिक ताकतवर होती जा रही हैं। सार्वजनिक स्थान पर यदि आप गांधी की प्रशंसा कर रहे हैं, तो आपको कड़वी बातें सुनने को मिल सकती हैं। गांधी की प्रशंसा करना धीरे-धीरे एक ख़तरनाक काम होता जा रहा है। ऐसे ही समय में यह प्रश्न भी रह-रह कर उछाला जा रहा है कि यदि गांधी हुए ही नहीं होते, तो क्या होता। गांधी का विरोध करने वाले इस प्रश्न के उत्तर में एक बहुत ही लोक-लुभावन तस्वीर भारत की सामने रख देते हैं। और बिंदुवार चर्चा करते हुए बताते हैं कि यदि गांधी नहीं होते, तो देश कैसा होता। गांधी की सबसे बड़ी सफलता तो शायद यही है कि जन्म के एक सौ पचास साल और मृत्यु के सत्तर से भी अधिक साल बाद वे आज भी प्रासंगिक बने हुए हैं। आज भी वे ही चर्चा के केंद्र में होते हैं। गांधी को ख़ारिज करने के जितने भी प्रयास किए जाते हैं, उतनी ही अधिक चर्चा गांधी पर होती है। इस बात का सही-सही उत्तर तो इतिहास में जाकर ही तलाशना होगा कि गांधी नहीं होते तो क्या होता ? या फिर वह पीढ़ी ही बता सकती थी, जिसने गांधी को देखा था, कि गांधी के बिना वह किसी प्रकार के समय की कल्पना करती। गांधी पत्रकारिता और साहित्य दोनों से जुड़े हुए थे। वे साहित्य और पत्रकारिता दोनों के लिए सरोकार की बात करते थे। जिन सरोकारों की बात गांधी करते थे, उनकी ज़रूरत आज सबसे अधिक है। हम सब जिस समय में जी रहे हैं, वह समय करुणाविहीन होता जा रहा है। भगवत रावत जी की एक कविता है 'करुणा' उस कविता की अंतिम पंक्तियाँ कुछ इस प्रकार हैं- ''पता नहीं / आने वाले लोगों को दुनिया कैसी चाहिए / कैसी हवा कैसा पानी चाहिए / पर इतना तो तय है / कि इस समय दुनिया को / ढेर सारी करुणा चाहिए।'' असल में गांधी की भी चिंता वही थी, जो भगवत रावत की इस कविता की अंतिम पंक्ति में है, कि इस दुनिया को अब ढेर सारी करुणा चाहिए। गांधी वास्तव में करुणा से ही विगलित करते थे। वे जानते थे कि अंदर की संवेदनशीलता के तार बहुत कोमल स्पर्श से छूने पर बज उठते हैं। गांधी हर किसी के अंदर के उन्हीं तारों को छू देते थे। साहित्य भी एक ही बात को लेकर पिछले सौ-दो सौ वर्षों से चिंतित है, और वह बात भी यही है कि इन्सानों के अंदर से करुणा धीरे-धीरे छीजती जा रही है। इसलिए जब हम इस प्रश्न के उत्तर पर पहुँचते हैं कि गांधी नहीं होते तो क्या होता, तो हम कम से कम एक बात पर तो सुनिश्चित होते हैं कि यदि गांधी नहीं होते तो हम अंदर से और कम करुणा लिए होते। हम शायद अंदर से और ज़्यादा क्रूर हो गए होते। समय से और पहले हो गए होते। किसी भी व्यक्ति के बिना क्या होता, इसका आकलन नहीं किया जा सकता, क्योंकि हर व्यक्ति समय पर अपना एक हस्तक्षेप लेकर चलता है। और गांधी जैसे व्यक्तित्व तो समय पर अपने चिह्न ही छोड़ कर गुज़रते हैं। यह वर्ष गांधी के जन्म के एक सौ पचास साल पूरे हो जाने का है। गांधी को लेकर चर्चाएँ होती रही हैं और आगे भी होती रहेंगी। इस अंक में हम महात्मा गांधी पर कुछ विशेष सामग्री दे रहे हैं। वरिष्ठ साहित्यकार डॉ. कमल किशोर गोयनका का एक आलेख, जो गांधी के पत्रकार रूप के बारे में बहुत जानकारियाँ प्रदान करता है। गांधी की पत्रकार रूप की बहुत व्यापक पड़ताल इस आलेख में की गई है। दूसरी सामग्री के रूप में वरिष्ठ कवि श्री वीरेंद्र जैन द्वारा सुप्रसिद्ध फ़िल्मकार श्री श्याम बेनेगल द्वारा पच्चीस वर्ष पूर्व गांधी जयंती के एक सौ पच्चीस वर्ष पूर्ण होने पर बनाई गई महत्त्वपूर्ण फ़िल्म 'मेकिंग ऑफ़ महात्मा' की समीक्षात्मक पड़ताल है। हमारी कोशिश यही रहेगी कि महात्मा गांधी पर और भी इस प्रकार की सूचनाप्रद सामग्री में इस वर्ष में आने वाले अंकों में हम आपके लिए प्रस्तुत करते रहें। **आपका ही**

शहरयार

शिवना प्रकाशन, पी. सी. लैब,
सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट
बस स्टैंड के सामने, सीहोर, म.प्र.
466001, मोबाइल : -9806162184
ईमेल : shaharyarcj@gmail.com

व्यंग्य-चित्र

काजल कुमार
ईमेल : kajalkumar@comic.com

गीताश्री
फ़्लैट नं. डी-11442, गौर ग्रीन एवेन्यू, अभय खण्ड, इंदिरापुरम, ग़ाज़ियाबाद, उत्तर प्रदेश- 201014
मोबाइल : 9818246059
ईमेल : geetashri31@gmail.com

साक्षात्कार

कथाकार- पत्रकार गीताश्री से पारुल सिंह की बातचीत

पारुल सिंह, डब्ल्यू-903, आम्रपाली ज़ोडिएक, सेक्टर 120, नोएडा, उप्र 201301, मोबाइल : 9871761845,
ईमेल : psingh0888@gmail.com

पारुल सिंह : सबसे पहले तो आपको बहुत सारी शुभकामनाएँ। बनारसी प्रसाद भोजपुरी सम्मान,समग्र कथा संग्रह के लिए प्रदान किया गया। हाल ही में आपको अंतर्राष्ट्रीय शिवना कथा सम्मान आपके उपन्यास ''हसीनाबाद'' के लिए दिया गया। गीताश्री जी अपनी लेखन यात्रा के विषय में हमें बताइए। कैसे आपका लेखन शुरू हुआ? क्या आपकी प्रेरणा, और आदर्श हैं इस क्षेत्र में ? और क्या आपकी लेखकीय योजनाएँ हैं भविष्य के लिए?

गीताश्री : धन्यवाद पारुल। आपने कई सवाल एक साथ पूछ लिए। लेखन यात्रा, प्रेरणा, आदर्श और भविष्य की योजनाएँ। एक एक कर सवालों के जवाब देते हैं।

सबसे पहले लेखन यात्रा के बारे में। मेरा लेखकीय जीवन बहुत छोटा है। पत्रकारीय जीवन बहुत लंबा। लेखन में आए हुए अभी एक दशक भी नहीं हुआ। जबकि पत्रकारिता में दो दशक से ज़्यादा समय गुज़ारा। मेरा लेखक वहाँ खो गया था। पत्रकारिता के बियाबाँ में सारी रचनात्मकता सूख गई थी। भीतर में कुछ कसमसाता ज़रूर था। कुछ तो दोस्तों ने भी याद दिलाए रखा कि मैं लिख सकती हूँ, मुझे लिखना चाहिए। कॉलेज के दिनों में सिर्फ कविताएँ लिखती थी। स्कूली जीवन में कहानियाँ लिखी थीं, राजा-रानी वाली।

लेखन का बीज तो बचपन से मन में था। राजा-रानी और परियों की कहानियाँ अपनी कॉपी में लिखती रहती थी। समय के साथ वो तिलिस्म पीछे छूट गया। कहानी की दुनिया मेरे लिए हाल में खुली है। कुछ सालों से सिर्फ कहानियाँ लिख रही हूँ। पत्रकारिता लगभग छूट-सी गई है। लेखन भी एक चस्का है, लत है, जो लग गई तो छूटती नहीं। पत्रकारिता, रचनात्मक लेखन के लिए उर्वर भूमि है। पत्रकारिता ही वह ज़रिया है जिसने मुझे लेखन तक पहुँचाया। नहीं तो मैं भटकती रहती रचनात्मकता की खोज में। मेरे लिए रास्ता तैयार किया। अभिव्यक्ति की जो सीमाएँ पत्रकारिता में हैं, वह साहित्य में आकर टूट जाती हैं। वहाँ अधैर्य है, हड़बड़ी है, साहित्य में धीरज है। मार्खेज़ ने कहा था- ''पत्रकारिता ने उन्हें भाषा का एक अधिक प्रभावशाली इस्तेमाल करना सीखाया साथ ही अपनी कहानियों को प्रामाणित बनाने के रास्ते बताए।'' अपने अनुभवों से मैंने भी इस सत्य को जाना।

अब बात प्रेरणा की, मैंने पत्रकारिता में रहते हुए भी साहित्य पढ़ना छोड़ा नहीं था। घर लौटने के बाद रोज़ रात एक किताब ज़रूर साथ होती। तब लिखने की धुन सवार नहीं थी। सो सिर्फ पढ़ने का जुनून था। मुझे पढ़ते-पढ़ते लगा कि मेरे पास कहने को बहुत कुछ है, मैं कहना चाहती हूँ, जो मैं अपने पेशे में नहीं कह पाती हूँ। मेरे भीतर छटपटाहट शुरू हो गई थी। कुछ संगति उस दौरान ऐसी हुई कि लेखन के लिए प्रेरित हुई। साहित्यिक बैठकों में जाने लगी, हंस के संपादक राजेन्द्र यादव जी की संगति हुई, उनका निर्देशन मिलने लगा, वे उकसाने लगे लिखने को। मेरे भीतर का कवि तो बहुत पहले ग़ायब हो चुका था। एक कहानीकार की संगति मिली, तो मेरे भीतर छुपी हुई कहानी के वायरस ज़िंदा हो उठे। उस दौरान मैंने कहानियाँ खूब पढ़ी। मुझे लगा कि कहानी लिखना थोड़ा कठिन, समय लेने वाला, मेहनत-मशक्कत वाला, यानी ज़्यादा चुनौतीपूर्ण काम तो है, मगर अब चुनौतियाँ भा गईं तो पीछे कहाँ हटने वाले। फिर तो शुरू हो गए।

आदर्श की अगर बात करूँ तो हमारी पीढ़ी तक आते आते आदर्श नए तरह से परिभाषित होने लगा था। जिस दौर में मैंने लिखना शुरु किया, उदारीकरण का असर समूचे समाज पर दिखना शुरू हो चुका था। सारे आदर्श भरभरा कर टूट रहे थे, मोहभंग हो रहा था। हम उस

दौर के कथाकार थे जब समाज, दुनिया बहुत तरह के बदलावों से गुज़र रही थी। नए विचार बन रहे थे, पुराने विचार ध्वस्त हो रहे थे। समाज व्यक्ति केंद्रित ज़्यादा होने लगा था और परिवार विखंडित हो गया था। दुनिया भर में जो घटनाएँ तेज़ी से घटित हुईं, उनका असर हरेक क्षेत्र में हुआ। इनका असर हमारे दिल-दिमाग़ पर भी गहरे रूप में हुआ। हम इससे हतप्रभ भी थे और आहत भी। कुछ हद तक आज़ाद भी महसूस कर रहे थे। पुराने, घिसे-पिटे मूल्यों के ढहने से आज़ादी जैसा महसूस तो होता ही था। मैंने उसी दौरान लोहिया और गांधी को खूब पढ़ा और अपने को लोहिया के विचारों के ज़्यादा करीब पाया। शायद मैं जो सोचती थी, या सोचती हूँ, लोहिया जी उसी को बोल-लिख कर स्थापित कर चुके थे। मैं शुरू से ऐसी रही कि कहीं खुद को बंदी नहीं होने दिया, न विचारों की, न धाराओं की। मैंने हमेशा अपने विवेक से, अपनी समझ से अपने आदर्श चुने। कुछ अपने बनाए और जिनका निर्वाह आज तक करती हूँ। लेखन में सक्रिय हुई तो मेरे ऊपर सिमोन, रोज़ा लक्ज़बर्ग, वर्जिनिया वुल्फ, जर्मन ग्रेयर और मीरा बाई का ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये ही मेरे आदर्श हो गए। और आज तक हैं।

भविष्य की योजनाएँ... क्या बताऊँ... ऐसा लगता है जैसे मैं भविष्य बनाने के लिए किसी अँधेरी सुरंग में छोड़ दी गई हूँ। मुझे कुछ सूझता नहीं। एक हूक-सी उठती है रह रह कर...कि उन्हें न्याय दिलवाऊँ, जिन्हें उनका हक नहीं मिला। जो इतिहास के पन्ने पर छोड़ दी गई हैं या उन्हें कहीं गुम कर दिया गया है। उन्हें खोज लाऊँ। ख़ासकर स्त्रियाँ।

पारुल सिंह : आप कैसा महसूस कर रही हैं, और किस तरह से देखती हैं हिंदी साहित्य जगत् में आपको मिलने वाले इन सम्मानों को?

गीताश्री : कुछ पुरस्कार ऐसे होते हैं जो मिलते ही आपके आगे का द्वार खोल देते हैं। जैसे आपकी उपलब्धियों के मुहाने पर किसी ने ढक्कन लगा दिया हो। अंतर्राष्ट्रीय शिवना कथा सम्मान मुझे पहले उपन्यास के लिए मिला, इसके बाद तो कई पुरस्कारों की घोषणा हुई। अभी और भी हैं, श्रीगंगा नगर में सृजन कुंज कथा सम्मान भी मिला है। मेरी एक कहानी पर दिया जा रहा है यह पुरस्कार। जो उसी पत्रिका में छपी थी। मुझे ये बात नहीं पता था कि पत्रिका में छपने वाली कहानी पुरस्कृत भी होगी। उन्होंने कहानी माँगी, मैंने भेज दी। बाद में मुझे खबर मिली तो दंग रह गई। खुशी भी हुई। मैं क्यों झूठ बोलूँ कि पुरस्कार मिलने पर मैं तटस्थ रह गई या मिलने से मैं उत्साहित नहीं हुई। भला सराहना और पुरस्कार किसे अच्छा नहीं लगता। वे नकली लोग होते हैं जो तटस्थ बने रहने का दिखावा करते हैं। मैं नहीं हूँ ऐसी। पुरस्कार मुझे उत्साहित करते हैं, मुझे और बेहतर करने को उकसाते हैं, मुझे ज़िम्मेदार बनाते हैं अपने काम के प्रति कि मुझे और बेहतर करना है। मेरे भीतर एक बच्ची बसती है, जो स्कूल में हर रेस में भाग लेती थी, कि उसे इनाम मिले। बोरा दौड़, जलेबी रेस, मुँह में चम्मच, चम्मच में काँच की गोली लेकर दौड़, बाधा दौड़... अनेक प्रकार की दौड़ में हिस्सा लेती थी। कभी हारती, तो कभी जीतती थी। जलेबी रेस में जब हारती तो भी मज़ा आता, क्योंकि उसे ट्रॉफी भले न मिले, जलेबियाँ खूब मिलती थीं खाने को। दोनों हाथ पीछे बँधे होते थे, ऊपर धागे में लिपटी हुई जलेबियाँ खाना होता था, मुँह से। मुझसे भी तेज़ लोग होते, जलेबी का टुकड़ा काटते और भाग जाते। मैं पूरी जलेबी के चक्कर में वहाँ उछलती रह जाती और पिछड़ जाती। मुँह में मिठास भर जाती। इनाम न मिलने का अफसोस जाता रहता। मैं लेखन में उसी जलेबी की मिठास पाती हूँ...पुरस्कार दूसरे बटोरते रहे। मैं लेखन में रस लेती रही। पुरस्कार की चाह पलती रहती है। वो बच्ची बड़ी होकर रेस में भाग नहीं लेती है। उसे ज़माना रेस में ढकेल देना चाहता है। वह तो खुद को हर प्रतियोगिता से बाहर कर लेती है। उसे बाहर ही जलेबी का आनंद आने लगा है। लेकिन सच तो ये भी है न कि जलेबी की मिठास के साथ इनाम भी मिल जाए तो क्या बुरा।

मेरे लिए साहित्य में मिलने वाला हर पुरस्कार मेरा उस दुनिया में स्वीकार की तरह है। जिस दुनिया ने बहुत बार मुझे उलीचना चाहा। आज भी ऐसे लोगों की कमी नहीं जो मुझे चोट पहुँचाते हैं, ये कह कर कि रचना औसत है या मैं साधारण लेखक हूँ। आलोचक गोपेश्वर सिंह ने बनारसी प्रसाद भोजपुरी सम्मान समारोह में अपने भाषण के दौरान बहुत मानीख़ेज़ बात कही कि साहित्य का इतिहास गौण साहित्यकारों से ही बनता है। क्योंकि गौण साहित्यकार ही जो वातावरण बनाते हैं, उनमें से ही कोई महान् साहित्यकार निकलता है। बिना गौण लेखकों से गुज़रे महान् लेखकों की बात नहीं हो पाएगी। मैं गौण लेखक हूँ, जो महान् लेखक के लिए वातावरण तैयार कर रहा है। ऐसी बातें मेरा हौसला नहीं तोड़ती, क्योंकि मैं जानती हूँ, मैं किसी हिंसक कार्रवाई में लिप्त नहीं हूँ। कुछ रच ही तो रही हूँ। रचते जाना, खुद के लिए मृत्यु का आमंत्रण ही देते जाना होता है। फ्रेंच दार्शनिक मिशेल फूको कहते हैं न कि लेखक एक अनुपस्थित की उपस्थिति होता है। वह स्वयं मृत्यु को आमंत्रित करता है और तब रचना जन्म लेती है। हर लेखक यही करता है। हमें उसके लेखन को हिकारत के भाव से नहीं देखना चाहिए जो मर-मर कर लिखता है। लेखक अपने प्रति हिंसक होता है, पाठकों के लिए अहिंसक।

पारुल सिंह : आपके पाठकों का भी आपको भरपूर प्यार मिल रहा है। शिवना प्रकाशन से आपके सम्पादन में आई आपकी ''रेखाएँ बोलती हैं'' रेखाचित्र के दोनों भागों को मिल रहा है। रेखाचित्र पर किताब लाने का विचार कैसे आया आपको? जबकि कथेतर पर आजकल बहुत कम सामग्री पढ़ने में आती है?

गीताश्री : मुझे शुरू से कथेतर पढ़ना बहुत पसंद। एक साथ दो किताबें रखी हों, उपन्यास और कोई संस्मरण, मैं संस्मरण पहले पढ़ना पसंद करूँगी। मुझे उसमें ज़िंदा लोगों की गंध आती है, कुछ साँसें, सुनाई देती हैं, कुछ आहटें होती हैं आसपास। जैसे कोई बाहर निकल कर बात करना चाहता हो। एक युग जैसे खुलता जाता है। उसमें से लोग निकल कर बातें करते हैं। कुछ लोग तो मेरी बाँह थाम लेते हैं। मुझे इस तरह की फील होती है। क्या करूँ।

इन दिनों कथेतर पर कम लोग काम कर रहे हैं। ज़्यादा भीड़ कथा और उपन्यासों में उमड़ रही है। सबको लगता है कि कथा, उपन्यास में ज़्यादा देर टिके रहने का दम

होता है। कथेतर की उम्र कम होती है। भ्रम की-सी स्थिति है। सबको लगता है कि यही दो विधाएँ उन्हें अमरत्व प्रदान करेंगी। बहुत भ्रम है उन्हें। मैं दो कथेतर किताबों का उदाहरण देना चाहूँगी-

युवा लेखक प्रभात रंजन की दो कथेतर गद्य की किताबें-'कोठागोई' और 'पालतू बोहेमियन' अपने शोध, कंटेंट और शिल्प की वजह से याद की जाएँगी। मैं कथेतर पर काम करना चाहती हूँ। कर रही हूँ, आगे भी करूँगी। इन दिनों कथा, कहानी के घटाटोप में साहित्य की कई विधाएँ लोप हो गई हैं। लोग इस ओर ध्यान नहीं दे रहे। संस्मरण भी आजकल कम लिखे जा रहे। मैंने रेखाचित्रों को फिर से चर्चा में लाने की कोशिश की है। सबसे लिखवाया, हरेक उम्र के लेखक से लिखवाया। जो छूट गए, मेरी ग़लती से, उन्होंने प्यार भरी डाँट लगाई। रेखा चित्रों के प्रति लोगों का लगाव अब तक बना हुआ है, ये मेरा अनुभव रहा। प्रकाशकों में इसे छापने को लेकर उत्साह हो न हो, पता नहीं। मेरे साथ एक बार पूछने पर ही शिवना प्रकाशन साथ खड़ा हो गया, फिर मैंने किसी से बात नहीं की। इस विधा में किताब छापना किसी प्रकाशक के लिए जोखिम भरा काम हो सकता है। इन दिनों सब के सब बाज़ारोन्मुख हैं। किताब में बिकाऊ कंटेंट खोजते हैं। ऐसे में शिवना प्रकाशन ने बिना सोचे-समझे, एक बार में इसे छापना स्वीकार किया, मैं खुद चकित रह गई थी। शिवना खुद ही नया प्रकाशन है। बड़े-बड़े प्रकाशक हिम्मत न करें, एक लुप्त होती विधा के प्रति उनकी दया दृष्टि क्यों होगी। शिवना ने यह जोखिम उठाया और एक के बाद दूसरी, अब तीसरी छपने जा रही, वे मुझसे ज़्यादा उत्साहित हैं इस किताब को लेकर। एक प्रकाशक के दायित्व को शिवना ने नए सिरे से परिभाषित किया है और दुनिया के सामने उदाहरण पेश किया है कि किताबें बाज़ार से परे भी सिर्फ साहित्य की विधाओं को ज़िंदा रखने के लिए छापी जा सकती हैं।

पारुल सिंह : क्या इस तरह की और भी विधाओं पर आप लिखने वाली हैं ?

गीताश्री : मैं संस्मरण, यात्रा-डायरी और रेखाचित्र लिखने वाली हूँ। मैं अपने समय के प्रमुख रचनाकारों के साथ जुड़ी अपनी यादें, अनुभव लिखना चाहती हूँ। जिसने जो मुझे दिया है, लिख कर लौटाना चाहती हूँ। यात्रा की बहुत-सी स्मृतियाँ हैं, उन्हें लिखना ज़रूरी लगता है। दुनिया को एक लेखक अलग तरीके से देखता है। वो बताता है कि दुनिया इस तरह भी देखी जा सकती है। या दुनिया को इस तरह भी देखा जाना चाहिए।

पारुल सिंह : आपकी रचनाओं पर हम चर्चा करें उस से पहले मैं जानना चाहती हूँ कि स्त्री-विमर्श पर आप क्या कहना चाहती हैं? आपने बहुत लिखा भी है इस पर। आप एक सशक्त हस्ताक्षर हैं हिंदी साहित्य जगत् में भी व सामाजिक रूप से भी स्त्री-विमर्श का।

गीताश्री : पारुल, इस आत्मीय सवाल का बहुत शुक्रिया।

साहित्य एक ऐसी अनंत भाषा है जो कि हमको एक अंतहीन विमर्श की अनुमति देती है। ज्याक देरिदा के इस कथन से मैं इत्तेफाक रखती हूँ। स्त्री विमर्श एक अंतहीन विमर्श है। इस पर बहस पिछले कुछ सालों में ज़्यादा तेज़ हुई है। इस पर हमले भी हुए, इसे खारिज करने की कोशिशें भी हो रही हैं, इसका मज़ाक उड़ाया जा रहा है, कुछ लेखिकाएँ इससे पल्ला भी झाड़ कर अलग हो रही हैं। खुद को अलग करके देखती हैं। जैसे स्त्री विमर्श कोई गुनाह हो या इसका ठप्पा लग जाने से उनका क़द छोटा पड़ जाएगा या मुख्य धारा में वे शामिल नहीं हो पाएँगी। वे खुद को ज़्यादा बड़ी रेस में झोंक देना चाहती हैं। अच्छी बात है। सबको अपने हिसाब से, सुविधा से, मूड से रास्ता चुनने का हक है। चुनिए, अलगाइए खुद को... मगर उपहास मत उड़ाइए कि विमर्श के खाँचे में लिखी जा रही कहानियाँ कमतर हैं। छोटे मोर्चे जीतने के बाद ही बड़े मोर्चे पर युद्ध कर सकते हैं न। हमें पहले छोटे छोटे मोर्चों पर लड़ना पड़ रहा है। स्त्री का लिखना ही अपने आप में बवाल है। यानी विक्टिम ने विश्वसनीय तरीके से अपनी बात कहनी शुरु कर दी,पितृसत्ता सही मायने में अब होगी बेनकाब। जिन्हें बेनकाब होने से डर लगता है, वे उपहास करते हैं। सभी दौड़ रहे हैं यहाँ, कोई सौ मीटर की रेस में है तो कोई हज़ार मीटर की...कोई मीलों लंबी राह पर दौड़ता चला जा रहा है। सभी हाँफ रहे हैं। कुछ मिला क्या...क्या मिलेगा अंत में...

मीडिया हो या साहित्य, कहीं भी मैंने ये सोच कर नहीं लिखा कि स्त्री विमर्श के खाँचे में रह कर लिख रही हूँ। खाँचे में लोग डालते चले गए या कहिए उस खाँचे में कहानियाँ फिट बैठती चली गईं। फिर मैंने इस निर्धारण को स्वीकार लिया कि चलो स्त्री विमर्श ही समझ लो...यही कर रही हूँ। स्त्रियों की कथा कहना स्त्री विमर्श है, उनके पक्ष में खड़े होना स्त्री विमर्श है तो यही सही। कथा को पितृसत्ता के चंगुल से निकालने का काम इसी विमर्श ने किया है। ये हम कब समझेंगें कि स्त्री विमर्श का मतलब सिर्फ महिलाओं का लेखन नहीं है, वह स्त्री दृष्टि से दुनिया को देखने का उपक्रम है। मैं सिमोन बोउआ के इस सोच से सहमत हूँ कि वे सब स्त्रीवादी हैं जो स्त्रियों की दशा में बदलाव लाने के लिए लड़ रहे हैं, वर्ग संघर्ष के साथ और इसके इतर भी बिना अपनी माँगों को पूर्ण सामाजिक बदलाव पर निर्भर बनाते हुए।

पारुल सिंह : ''स्त्री-लेखन'' क्या आप इस शब्द में विश्वास करती हैं?

गीताश्री : हाँ, करती हूँ...न। क्यों न करूँ भला। यह श्रेणी ही तो मुझे अहसास दिलाती है कि हम भी लेखन कर रहे हैं और मुख्य धारा में आने के लिए जूझ रहे हैं। स्त्री लेखन अभी तक मुख्य धारा में नहीं आया था। स्त्रियों को सही प्लेटफार्म नहीं मिला था। हमें अलग कैटेगरी की ज़रूरत थी जहाँ से फीमेल आवाज़ सुनी जा सके। जैसे दलित लेखन में दलित चिंतन है, उसी तरह स्त्री लेखन में स्त्री चिंतन का समावेश होता है। साहित्य में भी फीमेल आवाज़ है, उसे सुना जाना चाहिए। उसे नोटिस किया जाना चाहिए। जैसे आज अरुंधति रॉय को सुना जा रहा है या अन्य नोबेल पुरस्कार प्राप्त लेखिकाओं को सुना जा रहा है।

समाज बदल गया है, मगर स्त्रियों के बारे में आज भी स्त्रियाँ ही सबसे बेहतर लिख रही हैं। आप मानें या न मानें। कुछ लोग अलग कैटेगरी के ख़िलाफ़ हैं। वे नहीं मानते। स्त्रियाँ भी नहीं मानती, खुद को अलग कर लेती हैं। उनकी वो जाने।

पारुल सिंह : आप लेखन की बहुत सी विधाओं में लिखती हैं। पर आपको किस

विधा मे लिखना सबसे ज़्यादा पसंद है?

गीताश्री : मुझे यात्रा साहित्य लिखने में बहुत आनंद आता है। जिस चीज़ को सारी इंद्रियाँ भोगती हैं, देखती हैं, उसे लिखने का सुख ही कुछ और। ऐसा यथार्थ जिसमें कल्पना के नमक की ज़रूरत नहीं होती। आपके पास वो आँखें होनी चाहिए जो चीज़ों के आरपार देख सकती हों। कवयित्री गगन गिल कहती हैं कि हम सिर्फ जगहों की यात्रा नहीं करते, बल्कि उस कालखंड की भी यात्रा करते हैं, जो उस जगह से जुड़ी होती है। मैंने यात्रा संस्मरण अख़बारों, पत्रिकाओं में खूब लिखा है, बस किताब के रूप में नहीं आए हैं। मुझे ज़िंदा कहानियाँ लिखने का बहुत शौक। व्यक्ति चित्र लिखना बहुत पसंद। मैं एक अच्छी पर्सनालिटी रीडर हूँ। लोगों को समझती हूँ, उनके मनोविज्ञान को, हावभाव, हरकतों, उनकी चतुराई और मूर्खताओं को। उनके स्वार्थ और लाभ-हानि को। गहरे डूब कर उनका अस्सेसमेंट करती हूँ। ये मेरा प्रिय काम है, लोगों को पढ़ना। किताब से बाहर निकल कर लोगों को पहचानना। ये हुनर मेरी मदद करता है, अपने पात्र गढ़ने में। मैं जब सर्जक की भूमिका में होती हूँ तब ऐसा पात्र गढ़ना चाहती हूँ, जैसा मैं चाहती हूँ या जैसा इस दुनिया को चाहिए। हम अपनी दुनिया और लोग गढ़ कर इस दुनिया को चुनौती ही तो देते हैं। मेरा वास्तविक आनंद यही है।

पारुल सिंह : आप इतने दिन सक्रिय पत्रकारिता में रही, पत्रकारिता के अपने अनुभव कृपया बताएँ। अब पूरी तरह से साहित्य लेखन को समर्पित हैं, सक्रिय पत्रकारिता छोड़ने की क्या वजह रही?

गीताश्री : मैंने पत्रकारिता की नौकरी छोड़ी है, काम नहीं। पत्रकारिता में नहीं होती तो साहित्य की दुनिया में नहीं आ पाती। मैं दोनों दुनियाओं में आवाजाही करती हूँ। हालाँकि हम हिंदी पट्टी के लोग साहित्य पढ़ते हुए ही बड़े होते हैं। साहित्य के बीज बचपन में ही पड़ जाते हैं। पत्रकारिता से साहित्य तक आने में मुझे बड़ी मदद मिली। पत्रकारिता ने ही बारीकी और सूक्ष्मता से चीज़ों को देखना सिखाया है। पत्रकारीय दृष्टि का बहुत लाभ मिला है मुझे। इसीलिए कई पत्रकार बड़े अच्छे साहित्यकार साबित हुए हैं। कविता, कहानी, कहीं भी देख लें। लंबी परंपरा रही है जो नई पीढ़ी तक चली आई है। मैं अपने बारे में फिलहाल ये कह सकती हूँ कि दोनों को समान रूप से साध नहीं पाई हूँ। पता नहीं, साध भी पाऊँगी या नहीं। दोनों दुनियाओं में कई बुनियादी फर्क है। दोनों एक दूसरे के कंट्रास्ट हैं।

पारुल सिंह : लेखन के लिए अपने विषय कैसे चुनती हैं आप?

गीताश्री : विषय चुनना नहीं पड़ता। वे खुद चल कर आते हैं मेरे पास। राजेन्द्र यादव कहा करते थे कि हर कहानी तेरे ही पास चल कर क्यों आती है। मैं उन्हें बहुत-सी अद्भुत घटनाएँ, आयडिया बताया करती थी। वे सुनते और फिर कहते। मैंने फील्ड में काम किया है, कई प्रकार के अनुभव हुए, कुछ अपने, कुछ दूसरों के। कई कहानियाँ मेरी आँखों के सामने घटित हुईं। कुछ घट रही हैं। जीवन को मैंने कहानियों से ज़्यादा दिलचस्प पाया है। मेरे सामने समूची दुनिया तमाशे की तरह खुली हुई है। बहुत पारदर्शी दुनिया में जी रही हूँ जहाँ कुछ भी छिपाना संभव नहीं रहा। कुछ मिनट लगते हैं, जब दुनिया के किसी कोने में कुछ घटा और हज़ारों मील दूर बैठे हमें पास पहुँच जाता है। सूचनाओं की गति सबसे तेज़ है। उनका आक्रमण हम पर बढ़ता ही चला जा रहा है। मुँह कैसे चुराएँगे उनसे। घर बैठे आप तक आ रही हैं। अपने समय को अचरज से देखती हूँ। भीड़ है बेशुमार, हर तरफ, हर जगह बेशुमार आदमी, फिर भी तन्हाइयों का शिकार आदमी। ये सब मन पर गहरा असर डालती हैं। आपके अवचेतन में कब विषय बन कर प्रवेश कर जाती हैं, कहाँ पता होता है। एक उदास-से पल में कथा आती है और आपको दबोच लेती है। काफ्का से शब्द उधार लेकर कहें तो कहानी लिखना प्रेतात्माओं को अपने ऊपर बुलाने जैसा है। मेरा सारा अहं उस वक्त विसर्जित हो जाता है। मैं अपने बाहरी रूप से निकल कर किसी और लोक में प्रवेश कर जाती हूँ। मैं अपने करीब रहने की कोशिश करना चाहती हूँ, मगर इतना सरल भी नहीं। विचारक फॉक्नर ने कहा था कि तुम्हारे अंदर कुछ न कुछ जमा हुआ है, और उसे पिघलाना बहुत कठिन है। विषय ढूँढ़ने बाहर नहीं जाना पड़ता। इसी पिघलन से चीज़ें आती हैं बाहर निकल कर। अपने भीतर अब तक जिससे मैं अनजान थी, उसी की खोज तो करती हूँ।

पारुल सिंह : स्त्री के शोषण और दमन की कहानी कहते-कहते भी आपकी रचनाओं में एक धनात्मकता है, आपकी नायिका हिम्मत नहीं त्यागती। यह हिम्मत और जीवन जीने की जिजीविषा कथा के आरम्भ से लेकर अंत तक आपकी नायिकाओं का एक स्थाई गुण है। दुख में डूबी समझौतावादी, विकल्प विहीन स्त्री पर आकर आपकी कहानियाँ ख़त्म नहीं होतीं। क्या आप मानती हैं कि वास्तविक जीवन में भी आज हर तबके की स्त्री इतनी बाग़ी और सजग हो गई है?

गीताश्री : मेरी सारी कहानियों में आपने सही नोटिस किया। और मैं यही चाहती हूँ सबसे कि मेरी कहानियों में जो सबसे खास बात है, जिसको नोटिस किया जाना चाहिए। आपने पारुल नोटिस किया, इसका मतलब आपने बहुत ग़ौर से, बहुत ध्यान से मेरी कहानियाँ पढ़ी हैं। आज आपने सही निष्कर्ष निकाला है कि मेरी नायिका जो होती है, वह विकल्प विहीन नहीं होती समझौतावादी नहीं होती। दु:खों में ज़रूर होती हैं लेकिन मेरी कहानियाँ उस विकल्प विहीनता और दुखों पर खत्म नहीं होती हैं। वास्तविक जीवन में स्त्रियाँ सजग तो हो गई हैं लेकिन उनका बाग़ी होना अभी बाकी है। इसका एक मुख्य कारण है देखो स्त्री मुक्ति का जो पहला चरण होना चाहिए वह है आर्थिक सत्ता। खुद कमाए या पैतृक संपत्ति हो जो भी हो। अभी स्त्रियों का पैतृक संपत्ति पर तो हक ही नहीं है। तो स्त्री की संपत्ति क्या हुई? जो वह खुद अर्जित करती है खुद कमाती है। यह कहाँ से आएगी, जब उसके भीतर यह बात बैठेगी कि उसकी मुक्ति संभव है अगर उसे आज़ादी चाहिए तो उसे सबसे पहले अपने आप को एंपावर करना पड़ेगा इकोनॉमिकली।

जिस स्त्री के भीतर आर्थिक ताकत होगी वह बाग़ी होगी। जिसके पास कुछ नहीं है कोई टूल नहीं है तो वह हिम्मत तो कर सकती है, सजग हो सकती है लेकिन बाग़ी नहीं होगी। बाग़ी होने के लिए उसके पास अपना आधार होना चाहिए तो अभी आप देखिए बहुत सारी स्त्रियाँ बेरोज़गार हैं

उनके पास काम के अवसर नहीं है उनके पास नौकरी नहीं है। वे घरों में हैं, बहुत सारे परिवार इजाज़त नहीं देते काम की। बहुत सारी स्त्रियाँ घरों में है स्वयं ही काम नहीं करना चाहती।

अभी भी नौकरी को लेकर बहुत ज़्यादा इच्छा शक्ति स्त्रियों में मैं देख नहीं रही हूँ लेकिन एक नया ट्रेंड देखा है कि गाँव में, कस्बों में जिनके हाथ में हुनर है कोई काम करने का, वह उसे कारोबार में तब्दील कर रही हैं। यह बड़ी अच्छी बात है, उनमें एक सेंस ऑफ सर्वाइवल आ जाता है। वह सर्वाइवल के लिए किसी पर निर्भर नहीं हैं। जो स्त्री, पुरुष पर निर्भर नहीं है वही बाग़ी हो सकती है लेकिन बहुत सारी स्त्रियाँ हैं जो आत्मनिर्भर है लेकिन बाग़ी नहीं हैं। यदि वो आर्थिक आधार अर्जित कर रही है और कोई उसे रोके तो वह कंट्रोल में नहीं रहेगी। जो वर्किंग लेडी है वह कंट्रोल में नहीं रहेगी। पितृसत्ता यह तो चाहता है कि स्त्रियाँ कमाए लेकिन उसके कंट्रोल में रहे।

जहाँ ज्यादा कंट्रोल होता है वहाँ बग़ावत होती है।

कहानी क्या है कि एक पेरेलल संसार रचती है। जैसी दुनिया मुझे चाहिए, जैसी मैं स्त्रियों को देखना चाहती हूँ वैसी वे दुनिया में नहीं हैं, तो मैं ऐसी स्त्रियों का एक संसार बनाना चाहती हूँ अपनी कहानियों में।

एक फिल्म आई थी ना ''जब वी मेट'' उसमें नायिका कहती है कि मैं अपनी फेवरेट हूँ, तो मैं अपनी फेवरेट हूँ आप खुद को आदर्श बनाइए। वे अपनी फेवरेट हों मैं स्त्रियों को उस रूप में देखना चाहती हूँ। मुझे पता नहीं कि मेरे अंदर यह जज़्बा क्यों आया, सामंती परिवेश से गुज़रने की वजह से शायद, पर यह है।

पारुल सिंह : आपकी कहानी ''नामर्दी की दवा वाया लेडीज सर्किल'' में मैं अनुभव करती हूँ कि हमारे समाज में परिवार स्त्रियों की समझदारी की वजह से टिके हैं काफी हद तक। आप और क्या कहना चाहेंगी इस कहानी पर?

गीताश्री : आपने सही नोटिस किया कि जो हमारा समाज है,परिवार हैं वह स्त्रियों की समझदारी पर टिका हुआ है काफी हद तक। अगर ऐसा नहीं होता तो बहुत सारे घर टूट गए होते, तो आज भी ऐसा है कि बहुत सारी स्त्रियाँ समझौते करती हैं, समझौते करने के कई कारण हैं, एक तो स्त्रियाँ अपने कंफर्ट ज़ोन से बाहर नहीं निकलना चाहती हैं। दूसरा बच्चों की ख़ातिर कितने साल निभा लिए अब बच्चे हैं तो और निभा ले जाते हैं।

एक बात और कि औरतें अपनी आकांक्षाओं को अपने नियंत्रण में रखना जानती हैं, उनको लगता है कि अपने सपनों, अपनी आकांक्षाओं को नियंत्रण में रखकर एक परिवार बच जाता है। परिवार स्त्रियों की सहनशीलता खत्म होने पर ही टूटता है। यह कहानी एक क़स्बे के संयुक्त परिवार की कहानी है। उनकी अपनी अलग तरह की समस्याएँ हैं, जो बाहर की दुनिया से कटी हुई हैं। वह आपस में एक साथ बैठती हैं अपने दुख-दर्द एक दूसरे को कहती हैं और शादी ब्याह के माहौल में वह जब खुलती हैं, तो खुलती ही जाती हैं। तथाकथित सभ्य समाज अगर उनकी बातचीत सुन ले तो वह यकीन ही ना करे कि औरतें इतनी खुलकर भी बात कर सकती हैं। सेक्स तो टैबू है, हम उस पर खुलकर कैसे बात कर सकते हैं। लेकिन ग्रामीण स्त्रियों के गोले में आप बैठिए तो आपको पता चलेगा कि वह अपनी सेक्सुअल प्रॉब्लम भी कितनी सहजता से डिस्कस करती हैं। वहाँ पर तो बाकायदा गाली गीत हैं। इस कहानी में भी वह ज़्यादातर अपनी सेक्सुअल प्रॉब्लम्स शेयर कर रही है। आयु बढ़ने के साथ-साथ दांपत्य जीवन में सेक्स से स्त्रियाँ विमुख होती जाती हैं, क्योंकि उनके ऊपर और दूसरी ज़िम्मेदारियाँ भी आती हैं। बच्चे बड़े हो गए हैं घर परिवार की ज़िम्मेदारियाँ स्त्री की देह उसके मन से संचालित होती है और उसका मन कई जगह बटा होता है।

पारुल सिंह : पितृसत्ता से कवच के रूप मे स्त्रियों का बहनापा आपस में बहुत काम करता है?

गीताश्री : जी बिल्कुल स्त्रियाँ अपना गोपन स्त्रियों के सामने ही खोलती हैं जो कि हमारे गाँव-कस्बों में अभी भी बहुत अच्छे से बना हुआ है देखिए साथ में स्त्रियाँ बैठती हैं। कभी वह स्वेटर बुन रही हैं, कभी पापड़ बना रही हैं, कभी चावल बीन रही हैं। तब वहीं पर बड़ियाँ बन रही हैं या फिर शादी-ब्याह की कोई रस्म हो रही है। शादी-ब्याह में औरतों को कोई काम नहीं होता तो बैठो, गीत गाओ, रस्में करो, गप्पे लड़ाओ, तब बहुत अलग किस्म का बहनापा उनके अंदर पनपता है। ग्रामीण परिवेश में तो उनके आपस में एक दूसरे से मज़ाक के रिश्ते होते हैं तो एक दूसरे को खुलकर गाली देती हैं बातें भी करती हैं। हमारे जो लोकगीत हैं, हमारा जो लोक समाज है उसमें बहुत खुलापन है। स्त्रियों की दुनिया बहुत छोटी है, बहुत बड़ी नहीं है, वह लिख नहीं सकती कहीं। तो अपना दुख गीतों में गा सकती हैं। या एक-दूसरे से कह सकती हैं। वे एक-दूसरे की सहायता करती हैं वे एक-दूसरे को सलाह देते हैं कस्बे में और छोटी जगह में अभी भी वह बहनापा बना हुआ है।

पारुल सिंह : अब बात आपके उपन्यास हसीनाबाद की। इस उपन्यास की बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातों में से एक अत्यंत महत्त्व की बात इस उपन्यास से आती बिहार की माटी की सौंधी ख़ुश्बू। आपने जिस लोक से परिचय करवाया वह अद्भुत है। लेकिन पहला उपन्यास, अपनी मिट्टी की पृष्ठभूमि, और राजनीतिक विषय! क्यूँ? राजनीति क्या बहुत रूखा विषय नहीं था पहले उपन्यास के लिए?

गीताश्री : बिहार में मिथिलांचल और वज्जिकांचल एक मिली-जुली संस्कृति है, मैं वज्जिकांचल क्षेत्र से आती हूँ। उसी क्षेत्र का उसी लोक के परिवेश का यह उपन्यास हसीनाबाद है। क्योंकि यह मेरा पहला उपन्यास था तो मेरी माटी का बहुत क़र्ज़ है मेरे ऊपर। एक अनुभव संसार भी होता है, हर लेखक का अपना परिवेश होता है जहाँ से वह निकल कर आया है। उपन्यास पूरी तरह राजनीतिक नहीं है। इसमें एक हिस्सा राजनीति है और एक हिस्सा लोक है। राजनीति बहुत रूखा विषय है। मैंने राजनीतिक रिपोर्टिंग की है तो मुझे मालूम है राजनीति बहुत सूखा क्षेत्र है लेकिन वह फिर भी लेखक पर आधारित है कि वह उसे किस तरीके से लिखे। मैंने इसे पूरी तरह राजनीतिक नहीं होने दिया है। एक तो मेरी अपनी मिट्टी की कहानी, दूसरा मैं जिस क्षेत्र से हूँ उस क्षेत्र के बारे में लिखती हूँ, तो वह अधिक विश्वसनीय होगा। दूसरी किसी

और दुनिया के बारे में लिखूँगी तो मेरे पास उसका पूरा रिसर्च होना चाहिए। जिस दौरान मैं यह लिख रही थी उस समय मुझे पता नहीं था कि राजनीति में कहाँ तक यह कहानी जाएगी।

पारुल सिंह : अपनी रचनाओं और उनके पात्रों का चयन आप कैसे करती हैं? आप किसे पढ़ती हैं? एक पाठक के जीवन में पुस्तकों का क्या प्रभाव लगता है आपको?

गीताश्री : देखो मैं जब कहानियाँ लिखती हूँ तो उसमें या तो कोई मेरा अपना जीवन का अनुभव होता है या कोई घटना कोई पात्र याद आते हैं। मुझे यह नहीं पता कि कौन मेरा हाथ पकड़ कर मुझसे क्या लिखवाता है। कई बार झटके से कोई चीज़ दिमाग़ में आ जाती है और मैं सोचती हूँ कि इसमें कहानी की संभावना है इस पर कहानी लिखी जा सकती है।

कुछ स्थितियाँ ऐसी भी होती हैं जिनसे मैं उस वक्त गुज़री होऊँगी तो मुझे कुछ विशिष्ट नहीं लगा होगा, बाद में फिर लगता है कि अरे उसमें तो उपन्यास या कहानी के तत्व हैं। जब से मैं कहानियाँ लिखने लगी हूँ तब से मेरी दृष्टि ही बदल गई है। मैं सबको यही कहती हूँ कि साहित्य पहले आपको बदलता है फिर दूसरों को बदलता है। चीज़ों को ज़्यादा ग़ौर से देखने लगी हूँ ज़्यादा भीतर तक। चीज़ों के आर-पार देखने लगी हूँ। आँख मेरे पास थी, अब एक अलग तरह की दृष्टि आ गई है। देखो, मैं एक घटना बताती हूँ। पश्चिमी विचारक हैं देवीदा विखंडनवाद के प्रवर्तक। एक बार वह प्राग गए तो एयरपोर्ट पर गिरफ़्तार हो गए। उनके सामान से नशीली दवाएँ निकली। जेल में उनका वकील उनसे मिलने आया तो उसने बोला कि चीज़ों को बहुत ट्रैजिक ढंग से मत लीजिए, इसे अपना एक साहित्यिक अनुभव ही समझिए।

देरिदा लिखते हैं कि मेरे अंदर कोई था जो सब चीज़ों के होने के बावजूद उस जेल के अंदर कुछ चीज़ों के मज़े ले रहा था। जो किसी भ्रम को दोबारा जी रहा था और वहाँ लंबे समय तक बने रहने की कामना कर रहा था। देखिए, एक लेखक को कहाँ से चीज़ें मिल जाती हैं कुछ पता नहीं चलता।

मेरे ऊपर निर्मल वर्मा का बहुत बड़ा प्रभाव है। उनका उपन्यास 'रात का रिपोर्टर' पढ़ने के बाद जब मैं दिल्ली आई तो मैं मंडी हाउस में उसी तरह उन्हीं की तरह चलने की कोशिश करती थी सूखे पत्तों पर कि उसी तरह की आवाज़ आए चर-मर। धूप का टुकड़ा देखती थी तो मुझे निर्मल जी याद आते थे। आज भी मैं उनसे निकल नहीं पाई हूँ।

मैं अभी कुछ दिनों पहले ही यूरोप गई थी तो मेरे हाथ में निर्मल जी की 'चीड़ों पर चाँदनी' किताब थी। और उसको पढ़-पढ़ के मैं उन गलियों में भटक रही थी निर्मल जी जिस-जिस गली में गए थे। मैं जब दिल्ली आई थी पहली बार, तो सबसे पहले वॉलगा रेस्टोरेंट्स खोजा मैंने, जो निर्मल जी के एक उपन्यास में था। वॉलगा में बीयर पीते थे उनके पात्र। मेरा सौभाग्य है कि गगन गिल उनकी पत्नी मुझे बहुत प्यार करती हैं, तो गगन दी को मैंने बताया उस वक्त निर्मल जी ज़िंदा थे तो वह मुझे वहाँ लेकर गई। वह बोलीं 'तुम इतना पसंद करती हो वॉलगा को।' मुझे निर्मल जी से डर लगता था कि इतने बड़े साहित्यकार उनसे कैसे मिलूँ कैसे बात करूँ।

मैं वहाँ बैठकर उनकी कहानी का एक पात्र भी खुद को महसूस कर रही थी जो रोमांच मैंने जिया है पाठक के तौर पर वह अद्भुत है।

पारुल सिंह : वर्तमान हिंदी साहित्य व साहित्यकारों के विषय में आप क्या कहेंगी? क्या सब कुछ बहुत प्रतिस्पर्धात्मक हो रहा है?

गीताश्री : वर्तमान हिंदी साहित्य की बात करूँ तो अभी बहुत लिखा जा रहा है बहुत लोग लिख रहे हैं और यह साहित्य का स्त्री काल है। अनेक स्त्रियाँ लेखन में आई हैं, नए प्लेटफॉर्म मिले, सोशल मीडिया ने उन्हें एक मौका दिया। इस समय साहित्यकार सेलिब्रिटी हो गए हैं। बेस्ट सेलर हो रहे हैं उनकी कहानियों, किताबों पर फिल्में बन रही हैं। पाठक जो चला गया था किताबों से दूर, वह फिर से वापस आया है।

आज साहित्य की चार पीढ़ियाँ एक साथ लिख रही हैं हमारी पीढ़ी में देखो तो स्त्रियों की संख्या कम है लेकिन हमारे बाद की पीढ़ी में देखो तो स्त्रियाँ ही स्त्रियाँ हैं। कविता में, कहानी में, आलोचना में, आलोचना में स्त्री आई है सबसे अच्छी बात यह हुई है। इतने लिट फेस्ट हो गए हैं देश में कि मोहल्ला लेवल पर सिटी लेवल पर लिस्ट फेस्ट में साहित्यकार जाते हैं। मंच बहुत हो गए हैं जहाँ से लेखक अपनी बात कह रहा है। डिबेट भी हो रहे हैं, यह अच्छी बात है। लिट फेस्ट ने साहित्यकारों और आम पाठक के बीच की दूरियाँ एकदम कम कर दी हैं।

रचनात्मक स्पर्धा बहुत अच्छी चीज़ होती है, होनी चाहिए जैसे मैं ही हूँ, मुझे कथेतर लिखने का शौक है तो मेरा मन है कि अमुक की तरह लिखूँ।

पारुल सिंह : आपने रेखाचित्रों पर भी काम किया है, 'रेखाएँ बोलती हैं' पुस्तक शृंखला के दोनों भाग बहुत पसंद किए जा रहे हैं। आपने तो जैसे कथेतर साहित्य को पुनर्जीवित कर दिया है,उसमें नए प्राण फूँक दिए। कथेतर विधाओं से इस प्यार की कोई ख़ास वजह?

गीताश्री : रेखा चित्र लिखने और लिखवाने का बहुत मन था। क्योंकि पिछले कुछ सालों में इस बात पर काफी चर्चा हुई कि कथेतर कम लिखा जा रहा और कई विधाएँ लुप्त हो गईं। कोई लिखना नहीं चाहता। कविता और कहानी में भीड़ बढ़ रही है। उपन्यासों की माँग ज़्यादा हो गई है। मैंने सबसे पहले रेखाचित्रों को फिर से ढूँढ़ कर पढ़ा। महादेवी, निराला और फिर रामवृक्ष बेनीपुरी जी के रेखाचित्र खूब पढ़े, जिनमें कथा रस था। जीवन का मर्म छुपा हुआ था। उनके लोग जैसे मुझे आसपास चलते-फिरते दिखने लगे। मैंने अपने आसपास ग़ौर से देखा...मुझे कई किरदार ऐसे मिले जिन पर लिखा जा सकता था। कुछ लोग किताबी चरित्र के होते हैं। उन पर लिखने का आनंद होता है। मैंने फिर अन्य लेखकों को भी उकसाया। पत्र लिखा, आग्रह किया, समझाया, ज़िद की और उन सबसे लिखवा लिया। मैं कितनी सफल हुई, ये नहीं मालूम। क्योंकि मेरा उसमें कुछ नहीं, जो है, वो औरों का लिखा है। मैंने बस संपादन किया। मुझे लगता था कि रेखाचित्रों के बहाने कोई न कोई महान् किरदार हमें मिलेगा, जो अविस्मरणीय होगा। किताब अभी आई है, धीरे-धीरे कोई

किरदार निकलेगा बाहर जो अविस्मरणीय होगा। इस किताब के प्रति पाठकों का उत्साह अद्‌भुत है। इससे ज़्यादा लेखक-प्रकाशक मित्र पंकज सुबीर का उत्साह देखने लायक़। पहले दिन से आज तक वो उत्साह बढ़ाते रहे। पहला, दूसरा और अब तीसरा भाग भी आने वाला है। चित्र जैसी शुद्ध साहित्यिक किताब छापने का जोखिम कोई बहुत हिम्मतवर ही उठा सकता है। मैं तो हैरान हूँ कि तीनों खंड पंकज सुबीर के आग्रह पर आ रहे हैं। पहल मैंने की, अंजाम उन्होंने दिया। मैं कैसे आभार प्रकट करूँ... समझ नहीं आता।

अभी मेरी लंबी योजनाएँ है कथेतर की। चीड़ों पर चाँदनी (निर्मल वर्मा) आवारा, अवाक (गन गिल) आवारा, बंजारे, यायावर ... (पंकज सुबीर), ''आज़ादी मेरा ब्रांड'' जैसी एक किताब लिखने की। ''पालतू बोहेमियन'' (प्रभात रंजन) जैसी एक किताब लिखना चाहती हूँ। कथा से हट कर काम करना है। इतिहास में झाँकना, खँगालना चाहती हूँ। स्त्रियों का ओझल इतिहास कुरेद कर बाहर लाना चाहती हूँ।बहुत घुमक्कड़ हूँ, दुनिया जहान की सैर करती रहती हूँ।

पारुल सिंह : आपकी एक नई किताब 'भूत खेला' आई है, पहले तो इस अनोखी-सी, रोचक दिखने वाली, जिज्ञासा जगाने वाली किताब के लिए आपको ढेर सारी शुभकामनाएँ। आप भूतों को पात्र बना कर एक पूरी की पूरी किताब ही ले आईं! इस भूत प्रेम की कोई खास वजह? क्या आप मानती हैं कि भूत वास्तव में होते हैं?

गीताश्री : मुझे बहुत पसंद है हॉरर। मेरा बचपन भूत-प्रेत की कहानियाँ सुनते हुए बीता है। राजा-रानी या भूत-प्रेत। वह भी एक मनोरंजन है। सवाल ये नहीं है कि मैं भूत को मानूँ या नहीं। मैंने नहीं देखा है। लेकिन मैंने भूतों को खेलाते हुए देखा है। गाँव में मैंने देखा। किसी के ऊपर भूत आया हुआ है और ओझा भूत उतार रहा है। बचपन में मैंने यह सब देखा है लेकिन तब इतनी समझ नहीं, अब अगर मेरे सामने आ जाए तो मैं देखूँगी, परखूँगी। मैंने यह कहानियाँ भूत के अस्तित्व को स्थापित करने के लिए नहीं लिखी हैं।

एक पत्रकार हैं उन्होंने बताया कि वे छत्तीसगढ़ में एक मकान में रहते थे तो उनके सामने पलंग उठ जाता था, रात में हवा में चौकी उठ जाती थी। उन्होंने देखा है सब कुछ, मैं उनको कैसे झुठला दूँ? वह कह रही हैं कि उसी वजह से हमने घर छोड़ा। मेरे पास तीन-चार वीडियो हैं, जो अभी की घटना लोगों ने सुनाई उनके। अभी मैं लंदन गई थी तो वहाँ कथाकार, काउंसलर ज़किया ज़ुबैरी मुझे एक हांटेड कैफ़े में ले गईं। उन्होंने बताया कि यह मान्यता है वहाँ पर रोज़ शाम को शराब पीने एक आत्मा आती है।

इनमें एक पक्ष मनोरंजन भी है। मैंने भूत कथा इसलिए लिखी क्योंकि मुझे मज़ा आता है मैं बहुत भूतहा फिल्में देखती हूँ। मेरा इंटरेस्ट है इसमें। मैं लिखना चाहती थी। मैंने अपनी इन कहानियों में कहीं भी भूत को स्थापित करने की कोशिश नहीं की है। आप पढ़िए। मेरी हर कहानी में एक विमर्श है हर कहानी स्त्रीवादी नज़रिए से है। आपको कहीं न कहीं हर एक कहानी मेरे उसी विमर्श को आगे बढ़ाते मिलेगी। मैं भटकी नहीं हूँ। स्त्री कथा कहते हुए भी अगर स्त्री भूत भी है तो उसकी बात की है। उसका बहनापा दिखाया है। और दिखाया कि भूत हो कर भी ज़िंदा स्त्री को कैसे बचाती है। मैंने इन कहानियों को मनुष्यता के पक्ष में ही लिखा है। और जिस भूत से हम डरते हैं वह भूत नहीं है। भूत आपके भीतर का गिल्ट है। जो आप को चैन से सोने नहीं देता, जो आप को डराता रहता है।

पारुल सिंह : अपने ख़ाली वक़्त में आप क्या करती हैं? आपके शौक और पसन्द क्या क्या हैं?

गीताश्री : ये दो सवाल हैं ख़ाली वक्त में क्या करती हूँ और मेरे शौक और पसंद क्या है। क्या है कि मुझे कभी ख़ाली वक्त नहीं होता है। (हँसते हुए) मुझे उन लोगों पर दया और हँसी आती है जो कहते हैं, मैं बोर हो रहा हूँ। मुझे समझ में नहीं आता कि कोई अपनी कंपनी से बोर कैसे हो सकता है? ऐसा है तो फिर दुनिया का कोई इंसान आपकी बोरियत दूर नहीं कर सकता। मैं तो अपने को बोरिंग नहीं मानती हूँ। मैं बहुत मनलग्गू हूँ। मैं अपना भी मन लगाती हूँ और दूसरों का भी लगाती हूँ। और एक लेखक के लिए तो एकांत वरदान है, उसे तो अकेले होना ही चाहिए। जिसके पास किताबें हैं, जिसके पास विचार है, वह ख़ाली नहीं है। जिसके पास कोई लक्ष्य है वह ख़ाली नहीं हो सकता। और कुछ नहीं है आपके पास तो गाने सुनो, जो गाने पहले सुन कर गुज़ार दिए थे, उनको दोबारा सुनकर उनके शब्दों की व्याख्या करो, नए संदर्भ मिलेंगे और आनंद आएगा। जब मैं लेखक नहीं थी, मुझे ऐसा कभी नहीं हुआ कि मैं ख़ाली हूँ मैं क्या करूँ मैं क्या करूँ। मेरे पास बहुत काम होते हैं एक के बाद एक काम और कई बार जब मैं सोचती हूँ कि मैं अब कुछ ना करूँ तो मैं अपने साथ हो जाती हूँ। क्या करना है आगे, मुझे क्या प्लानिंग करनी है। मैं अपने से भी तो बात करूँगी।

रही बात शौक की देखो शौक तो बड़े-बड़े लोग फरमाते हैं (खिलखिला कर हँसते हुए) मेरी पसंद ही मेरा शौक है। गाना सुनना, दोस्तों के साथ गप्पें, फिल्में देखना मुझे बहुत पसंद है।

मैं तो सिनेमा की बहुत दीवानी हूँ। चिल्ला-चिल्ला के जैसी भी आवाज़ है उसी में गाना गाती हूँ। और दूसरी चीज़ ट्रैवलिंग। मतलब मैं यात्राएँ इतना करना चाहती हूँ कि यात्राओं में ख़त्म हो जाना चाहती हूँ। मुझे लगता है यात्रा को कुछ दिन हो गए, तो फिर चलो कहीं निकल लो। तो एक यायावरी रहती है मेरे अंदर। उस तरह नहीं है कि मैं ठहर गई। मुझे हमेशा लगता है कि मैं किसी सफ़र में हूँ। मेरे पैर में दोनों तलवों में हर वक्त लगता है जैसे झन झन झन झन झन जैसा कुछ हो रहा है।

मैं बोहेमियन भाव में जीती हूँ। कुछ दिनों के लिए कहीं टिकी हूँ फिर चल देना है। यात्राएँ और संगीत इन दोनों के बिना मेरा ज़िंदा रहना बड़ा मुश्किल है। मौत भी आए तो मैं कहूँगी- ज़रा रुको, ग़ालिब सुन रही हूँ, किशोर को सुन रही हूँ, अभी थोड़ी देर रुक जाओ, गाना पूरा सुन लूँ, फिर चलते हैं। जो भी मेरे फेवरेट गायक या गाने-ग़ज़लें-ठुमरी हैं, उन्हें जब मैं सुनती हूँ तो मैं कहती हूँ कि इन्हें सुनते हुए तो कोई मर भी नहीं सकता।

मृत्यु से एक ही प्रॉब्लम है मुझे ये सब छीन लेती है, लेकिन संगीत मुझे मरने नहीं देता है।

000

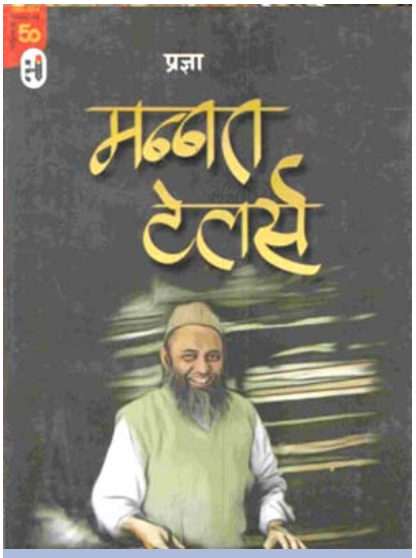

पुस्तक समीक्षा

मन्नत टेलर्स

समीक्षक : वंदना वाजपेयी
लेखक : प्रज्ञा
प्रकाशक : साहित्य भंडार, इलाहाबाद

वंदना वाजपेयी, बी-125, फर्स्ट फ़्लोर, निर्माण विहार, नई दिल्ली 110092
मोबाइल : 9818350904
ईमेल : vandanabajpai5@gmail.com

आज का दौर बाज़ारों का दौर है। ये केवल अपनी जगह सीमित नहीं है। ये बाज़ार हमारे घर तक आ गए हैं। ये हमें कहीं भी पकड़ लेते हैं। हम सब इसकी ज़द में हैं। टी.वी, रेडियो, मोबाइल स्क्रीन से आँख हटा कर ज़रा दूर देखने की कोशिश करें, तो किसी ना किसी होर्डिंग पर कुछ ना कुछ खरीदने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है। आज हमारे पास पहले से ज़्यादा कपड़े हैं, महँगे मोबाइल हैं, गाड़ियाँ हैं, लोन पर लिए ही सही पर अपने फ़्लैट हैं। हम सब अपने बढ़ते जीवन स्तर की झूठी शान से खुश हैं। उपभोक्तावाद की अंधी दौड़ में भागते हुए हमें कहाँ ध्यान जाता है गिरते हुए मानव मूल्यों का, टूटते रिश्तों का और आपसी सौहार्द का। ये सब लिखते हुए मुझे याद आ रहा है महान् वैज्ञानिक न्यूटन का तीसरा नियम...क्रिया की प्रतिक्रिया ज़रूर होती है। ठीक उतनी ही लेकिन विपरीत दिशा में। आप सोच रहे होंगे कि विज्ञान का यहाँ क्या काम है। लेकिन भौतिकी का ये नियम उपभोक्तावाद की संस्कृति में भी मौजूद है। जरा ग़ौर कर के देखिएगा...बाज़ार से हमारी दूरी जितनी घट रही है, आपसी रिश्तों की दूरी उतनी ही बढ़ रही है। ठीक उतनी ही लेकिन विपरीत दिशा में।

''उसकी साड़ी मेरी साड़ी से सफ़ेद कैसे'' से आपसी रिश्तों में ईर्ष्या के बीज बोती इस उपभोक्तावादी संस्कृति का असर सिर्फ इतना ही नहीं है। ''मेरे घर के बस दस कदम की दूरी पर मॉल है'', ''मेट्रो तो मेरे घर के बिलकुल पास से गुज़रती है'', ''हम तो सब्ज़ियाँ भी अब ए.सी. मार्किट से ही खरीदते हैं...भाई कौन जाए सब्ज़ी मंडी में झोला उठाकर पसीने बहाता हुआ'' जब हम बड़ी शान से ऐसे वाक्य कहते हुए विकास का जय घोष करते हैं तो हम बड़ी ही बेरहमी में उन लोगों की पीड़ा के स्वरों को दबा देते हैं जिनकी रोज़ी-रोटी छिन गई है। जिनके बच्चों की पढ़ाई छूट गई है। जिनकी झुग्गियाँ तोड़ दी गई हैं। इस संवेदनहीनता में हम सब शामिल हैं। बाज़ारवाद की भेंट चढ़े उन्हीं मानवीय रिश्तों, जीवन मूल्यों और रोज़ी-रोटी से महरूम किए गए दबे-कुचले लोगों के प्रति संवेदना जगाने के लिए प्रज्ञा लेकर आई हैं ''मन्नत टेलर्स''। इस कहानी संग्रह की हर कहानी कहीं ना कहीं आपको अशांत करेगी, सोचने पर विवश करेगी, और विवश करेंगी उन प्रश्नों के उत्तर खोजने को भी, जो आपके मन में प्रज्ञा हलके से रोप देती हैं।

यूँ तो बहुत तरह की कहानियाँ लिखी जाती हैं पर साहित्य का उद्देश्य ही अपने समय को रेखांकित करना है, संवेदना जगाना और समाधान ढूँढ़ने को प्रेरित करना है। आज जब लेखिकाओं पर लोग आरोप लगाते हैं कि वो केवल स्त्री संबंधित मुद्दों पर ही लिखती है तो मुझे लगता है कि 'मन्नत टेलर्स' जैसे कथासंग्रह उन सारे आरोपों का जवाब है। जहाँ ना सिर्फ बाज़ारवाद पर सूक्ष्म पकड़ है बल्कि उसके दुष्प्रभावों पर संवेदना जगाने की ईमानदार कोशिश भी। जैसा की अपने आत्मकथ्य में प्रज्ञा कहती हैं कि, ''जब धरती बनी तो उस पर रास्ते नहीं थे। पर जब बहुत सारे लोग एक ही दिशा की ओर चलते चले गए तो रास्ते बन गए। समाज की कठोर परिस्थितियों और निराशाओं के अँधेरों की चट्टान के नीचे मुझे हमेशा एक नए पौधे की हरकत दिखाई दी है। ये कहानियाँ साधारण से दिखने वाले लोगों के असाधारण जीवट की कहानियाँ हैं।''

'लो बजट' इस संग्रह की पहली कहानी है। ये कहानी है प्रखर की जो अपने दोस्त संभव के साथ दिल्ली में एक 'लो बजट' का फ़्लैट ढूँढ़ रहा है। प्रखर अपनी पत्नी व दो बच्चों के साथ अभी किराए के मकान में रहता है। उसका भी सपना वही है जो किराए के मकानों में रहने वाले लाखों लोगों का होता है ...एक अपना घर हो, छोटा ही सही लेकिन जिसकी दीवारें अपनी हों और अपनी हो उस की सुवास। और फिर फ़्लैट अपने होने से हर महीने दिए जाने वाले किराए से भी छुट्टी मिलती है। कहानी की शुरुआत फ़्लैट ढूँढ़ने में होने वाली परेशानियों से होती है। आए दिन प्रॉपर्टी डीलर फ़्लैट देखने के लिए बुला लेता है। संडे की एक सुकून भरी छुट्टी बर्बाद होती है। फिर भी फ़्लैट पसंद नहीं आता। किसी

की फर्श चीकट है तो किसी के किचन का स्लैब बहुत नीचा और किसी की अलमारियाँ दीमकों का राजमहल बनी हुई हैं। घर ढूँढ़ने की शुरूआती परेशानियों के बाद जैसे-जैसे कहानी आगे बढती है भू माफियाओं के चहरे बेनकाब करती चलती है। किस तरह से उपभोक्ताओं का शोषण हो रहा है। किस तरह से तंग गलियों में ऊँचे -ऊँचे फ़्लैट बन कर महँगे दामों में बेचे जा रहे हैं। किस तरह से बिना नक्शा पास कराए बनाए गए फ़्लैट जब तोड़े जाते हैं तो नुकसान सिर्फ और सिर्फ खरीदार को होता है। एक उदाहरण देखिए ...

''आप क्या समझ रहे हैं मकान खरीदने को ? इतना आसान है क्या ? फ़्लैट पसंद आ भी गया तो उसके साथ रजिस्ट्री की कीमत जोड़ो। हमारे दो परसेंट कमीशन को जोड़ो। फिर काग़ज़ बनवाने के साथ अथॉरिटी से काग़ज़ निकलवाने का खर्चा जोड़ो। और फिर असली कीमत तो तय होगी मालिक के साथ टेबल पर।''

जिन्होंने भी फ़्लैट खरीदे हैं या प्रयास किया है वो सब इस दौर से गुज़रे होंगे। कहानी यहीं नहीं रुकती। उसका फैलाव उन खेतों तक पहुँचता है जिन पर भू माफियाओं की नज़र है। जहाँ किसान की मजबूरी खरीदी जा रही है या उन्हें बड़े सपने बेच कर कृषि योग्य भूमि खरीदी जा रही है। बड़ी ही निर्ममता से हरी फसलों से लदे खेतों को कंक्रीट के जंगलों में बदला जा रहा है। कृषि योग्य भूमि की कमी हो रही है। किसान आत्महत्या कर रहे हैं। पर इसकी चिंता किसे है कि उपजाऊ ज़मीन और अन्नदाता को मृत्यु की ओर धकेल कर वो भविष्य में खाएँगे क्या ? क्या ये ईंट-गारा उनका पेट भर सकेगा ? दरअसल अपना घर का सपना है ही इतना हसीन की हम सब उसके तिलस्म में बँधे दौड़ते चले जा रहे हैं। जो कल होगा उसे कल सोचें की जगह क्या ये ज़रूरी नहीं है कि हम उस पर आज सोचें और उस भयावह कल से बच सकें। प्रखर का 'लो बजट' घर का सपना पूरा हुआ या नहीं ये तो आपको कहानी पढ़ कर ही पता चलेगा। पर इस कहानी को पढने के बाद आप घर का सपना देखते लाखों लोगों की समस्याओं, सरकारी तंत्र और प्रॉपर्टी डीलर्स की मिली भगत और कृषियोग्य भूमि पर भूमाफियाओं की लपलपाती जीभ के सत्य से अवश्य रू-ब-रू होंगे।

'मन्नत टेलर्स' इस संग्रह की सातवीं कहानी है पर इसकी बात पहले इसलिए कर रही हूँ क्योंकि ये कहानी आज की लोकप्रिय कहानियों में अपना स्थान बना चुकी है। इस कहानी की विशेषता है इसका बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद का सटीक चित्रण। ये कहानी आज के समय की कहानी है। हम सब इस कहानी को अपने आस-पास देख भी रहे हैं और कुछ हद तक जी भी रहे हैं। कहानी पुराने कारीगरों और हुनरमंद लोगों को बाज़ार द्वारा लील लिए जाने के अवसाद से शुरू होती है। यहाँ इसे दर्शाने का माध्यम बनते हैं रशीद भाई जो 'मन्नत टेलर्स' नाम से दर्ज़ी की दुकान चलाते थे। समीर द्वारा ''मन्नत टेलर्स' के रशीद भाई को याद करते हुए उस समय को याद किया गया है जब ग्राहक और दुकानदार के बीच रिश्ता महज कीमत चुकाओ और सामान खरीदो जितना सतह तक सीमित नहीं था। ये रिश्ते बड़े आत्मीय थे। जो एक दूसरे को पारिवारिक स्नेह के बंधन में बाँधते थे। कहानी में आज के स्लिम फिट युग में रेगुलर फिट की चाह रखते हुए समीर उसी समय को याद कर जब मन्नत टेलर्स को खोजता है, तो साथ में समेटता चलता है आत्मीय रिश्तों से भरी उन दुकानों की यादों को, जहाँ सामान खरीदने का मतलब खुद ही किसी ढेर से अपनी पसंद की चीज़ उठा कर काउंटर पर बिल पे कर देना भर ही नहीं होता। एक दृश्य देखिए-

''ऐसा करिए मास्साब ! अलग -अलग पीस के बजाय एक ही थान ले लीजिए। गुप्ता जी की दूकान से मेरा नाम लेकर।'' अचकचाकर उन्हें देखते हुए पिताजी बोले ''यार हँसी उड़वाओगे हमारी ? लोग शादी में सिर्फ एक थान के परिवार की वजह से याद रखेंगे।''

उस समय रसीद भाई ने मायूसी के बादल छाँटते हुए कहा,''इत्मीनान रखें आप ! एक थान आपको सस्ता पड़ेगा और मैं ऐसा बना दूँगा कि कोई बता ना पाएगा कि कपड़ा एक है ...और दुकानदार को पैसा देने की जल्दी न कीजिएगा। शादी का मामला ठहरा, सौ खर्च होंगे घर के, मैं बात कर लूँगा।''

समीर ये सब याद करते हुए वहाँ पहुँचता है जहाँ तब 'मन्नत टेलर्स' हुआ करती थी, और वहाँ जो वो देखता है उसमें जो ख़ुशी और दु:ख का जो सम्मिश्रण है वो कहानी की जान है। इस अवसाद को पकड़ पाना इतना सहज नहीं है। इसमें छिपा है हुनरमंद कारीगरों का दर्द जो बाज़ारवाद के हत्थे चढ़ गए। हम भी कहाँ सोचते हैं चमचमाते हुए शो रूम से कुछ खरीदते समय उनके बारे में, जिनके हुनर को इन बाज़ारों ने खरीद लिया है। इस कहानी की विशेषता ये है कि वो शब्दों से निकल कर दृश्य रूप ले लेती है ...और घटनाएँ सामने घटने लगती हैं। कथाकार की विशेषता होती है कि वो एक शब्द या पंक्ति में बहुत कुछ अनकहा कह दे। ऐसा ही एक शब्द मेरे जेहन में उभर रहा है वो है पॉलीथीन की चुररम चू ...यह चुररम चू बहुत कुछ कह देती है जिसे समीर छिपाना चाहता है।

'बतकुच्चन' एक सॉफ्ट सी कहानी है जो दो बहनों की फ़ोन पर बातचीत के माध्यम से आगे बढ़ती है। इस कहानी को पढ़कर आप अपने रिश्तों की गर्माहट को ज़रूर महसूस करेंगे। महिलाओं पर अक्सर आक्षेप लगते रहते हैं कि वो बुराई करती रहती हैं या निंदा रस में मशगूल रहती हैं। पर यहाँ इस बुराई को भी बहुत सकारात्मक रूप में लिया गया है। दरअसल रिश्तों में रहते हुए हम छोटी-छोटी बातों पर आहत होते रहते हैं और ये बात ना सिर्फ आपस में कहते भी रहते हैं बल्कि ये भी कहते रहते हैं कि, ''अब हम उनके यहाँ नहीं जाएँगे'', ''उनसे बात नहीं करेंगे''। लेकिन ये ग़ुस्सा केक के ऊपर लगे चेरी की तरह केवल सतह पर सीमित रहता है। अंदर अभी भी प्यार का दरिया बह रहा होता है। जिसे इंतज़ार रहता है कि कोई ज़रा सा बस पूछ ले और हम इस नाराज़गी का झूठा खोल फाड़ कर एक बार फिर प्यार से गले मिल लें। प्रज्ञा ने इस कहानी के माध्यम से प्यार के इस दरिये के बहाव में मन को ऐसा बहाया कि भावनाओं का सागर उसे अपने अंक में भर लेने को मचल पड़ा। इस कहानी को पढ़ने के बाद आपको अपने उन रिश्तों की ज़रूर याद आएगी जिनसे छोटे-मोटे गिले-शिकवे

हैं पर जिन्हें आपने और उन्होंने अहंकार का प्रश्न बना लिया है। बस ये ख़्याल आते ही देखिएगा कि कैसे ये दीवार भरभरा कर गिरेगी। आज जब रिश्ते ज़रा-ज़रा सी बात पर टूट रहे हैं ऐसे में प्रज्ञा इस कहानी माध्यम से उसकी दिली गहराई को फिर से स्थापित करती हैं। जो बहुत सुखद है। इसके लिए उन्हें बधाई।

रिश्तों पर आधारित एक अन्य कहानी है ''उलझी यादों के रेशम''। ये कहानी इतनी बेहतरीन है कि इसे पढ़ने के बाद मेरी भावनाओं का ज्वर-भाटा तो फूटा ही, मुझे दो दिन तक कुछ और पढ़ने का मन नहीं किया। किसी के लिए अपने पिता को खोना एक बहुत बड़े दर्द का सबब होता है। समय के साथ इंसान उस दर्द से निकलता है परन्तु अगर किसी के पिता लापता हो जाएँ तो... ? यकीनन उसकी रेशमी यादें अन्तकालीन इंतज़ार में उलझ कर रह जाती हैं। ऐसी ही एक बेटी है बिट्टू ...जिसके वृद्ध पिता अचानक से कहीं चले गए हैं और वो अपने लापता पिता के वीरान पड़े आशियाने में अपना वही पुराना घर ढूँढ़ने आती है, जिसमें गुज़रते वक्त की गर्त में जाले लग गए हैं। ...और उन जालों में उलझ कर रह गईं हैं रेशमी यादें। ये कहानी एक लापता पिता के माध्यम से बुज़ुर्गों के अकेलेपन और उससे उपजी समस्याओं से दो-चार कराती चलती है। आख़िर क्या -कारण है कि तीन बच्चों के पिता आज अकेले वीरान पड़े घर में जीवन काट रहे हैं ? जिन्होंने अपने तीनों बच्चों को पालने में पूरा जीवन लगा दिया उनके जीवन के अंतिम पड़ाव में सब इतने व्यस्त हो गए कि उनके पास अपने पिता के हाल-चाल पूछने का समय भी नहीं रहा। पिता के अचानक से गुम हो जाने पर बच्चे जिस गिल्ट से भरते हैं, जिस तड़प से गुज़रते हैं उस कारण ये कहानी बुज़ुर्गों पर लिखी अन्य कहानियों से बिलकुल अलग हो जाती है। इस घनघोर नकारात्मकता के पीछे भी सकारात्मकता प्रज्ञा खोज लेती हैं। बच्चे बुरे नहीं हैं ...बस ज़िन्दगी की भागदौड़ में आगे और आगे दौड़ते हुए पिता पीछे छूटते चले गए। ये कब और कैसे हुआ समझ ही नहीं आया। सफलता की दौड़ में आगे दौड़ते हुए हम बहुमूल्य रिश्तों की कितनी बड़ी कीमत चुकाते हैं ये कहानी उसी पर प्रकाश डालती है। भावनाओं के ज्वार से निकलने के बाद जब आप ठहर कर सोचेंगे तो अब तक पाया हुआ बहुत कुछ बेमानी लगने लगेगा। ये बेमानी लगना और रिश्तों की अहमियत को समझना ही इस कहानी की सफलता है।

अगर आप के बच्चे टीन एजर हैं या हाल ही में उन्होंने इस उम्र को पार किया है तो ''तेरहवीं दस्तक' कहानी आपको अपने घर की कहानी लगेगी। सारी घटनाएँ आपके अपने घर की घटनाएँ होंगी जो आपकी स्मृति की रील में एक बार फिर से घूम जाएँगी। ''हमारी भी तो यही उम्र थी कभी, पर हम तो ऐसे नहीं थे'' कहकर जब हम आज के उद्दंड, वाचाल, मनमौजी और कुछ हद तक अवज्ञा करने वाले बच्चों पर लगाम लगाना चाहते हैं तो एक तरह से हम उनके साथ बातचीत करने के सारे द्वार बंद कर देते हैं। एक माता-पिता के रूप में हम सब किशोर बच्चों के व्यवहार से परेशान हैं पर क्या कभी हम इसकी गहराई में उतर कर देखना चाहते हैं कि आज के बच्चे किन तनावों से गुज़र रहे हैं। उन पर पढ़ाई का, साइंस स्ट्रीम लेने का, प्रतियोगी परीक्षाओं का दवाब तो है ही, आज सोशल मीडिया के कारण सार्वजानिक जीवन का विस्तार हो जाने के कारण सुंदर दिखने, पॉपुलर होने, हर क्षेत्र में बेस्ट होने का जो दवाब है, उससे बच्चे कितने तनाव के शिकार हो रहे हैं। ये कहानी इन्हीं सारे मुद्दों को उठाती है। प्रोफेशनेलिज़्म की अंधी दौड़ में हमने बच्चों को अपने सपनों की रेस का घोड़ा बना दिया है। हम ये तो कह देते हैं कि बच्चों में सहनशीलता नहीं रही, वे ज़रा सी बात पर आत्महत्या जैसा कदम उठा लेते हैं। पर क्या ये बात ज़रा सी होती है? तनाव का एक ढेर जिस पर वो बैठे हैं उस पर एक छोटा सा तनाव भी उनकी सहनशक्ति को तोड़ देता है ? ये कहानी बच्चों के साथ आपसी संवाद पर ज़ोर देती है ...साथ ही आगाह करती है कि संवाद के लिए एक दोस्ती नुमा माहौल हमें ही बनाना पड़ेगा।

कभी आप के किसी परिचित का फ़ोन आने के बाद वो कहे कि, ''उसकी तो ज़िन्दगी ही बर्बाद हो गई है'', ''आज का दिन उसकी ज़िन्दगी का सबसे ख़राब दिन था'' और उसके बाद फ़ोन कट जाए। लाख मिलाने पर भी ना मिले, तो आप क्या सोचेंगे ? जाहिर है एक से एक बुरे ख्याल आपके ज़ेहन में तैरने लगेंगे। हो सकता है भगवान् भी मनाने लगें। प्रार्थना, उपवास भी मान लें। किसी आकस्मिक मदद के लिए पैसे भी निकाल लें। ऐसी ही भावनाओं की जद्दोजहद से गुज़रती है कहानी ''तबाह दुनिया की दास्तान''। लेकिन जब कहानी मुकम्मल होती है तो ...आप अपने साथ घटे किसी ऐसी एक वाकये को ज़रूर याद करेंगे।

''एक झरना ज़मींदोज़'' में क़िस्सागोई इतनी बेहतरीन है कि आप उसके प्रभाव में आए बिना नहीं रह सकते। इस तरह की क़िस्सागोई साधना कोई आसान काम नहीं है। लेकिन जिस तरह से उसे साधा गया है वो वाकई क़ाबिले तारीफ़ है। क़िस्से के माध्यम से हम मिलते हैं एक प्रश्न पूछती स्त्री और निरुत्तर होते पुरुष से। ये क़िस्सा है दो प्रेमियों गुल और बहार का। जहाँ एक के लिए इश्क़ कोरी लफ़्फ़ाज़ी है तो दूसरे के लिए समर्पण। जब सच सामने आता है तो क्या इंसान वहीं खड़ा रह सकता है ? रिश्तों में सिर्फ लफ़्फ़ाज़ी नहीं चलती, कितनी भी बहारें हों, कितने भी गुल खिले हों पर झूठ पर ऐतबार का मौसम बीतना ही होता है। कई बार सच के साथ जीने की ख़्वाहिश में झूठ से उपजाई गये भावनाओं के झरने को ज़मींदोज़ करना ही पड़ता है ....थोड़ा आगे बढ़ कर कहूँगी कि करना ही चाहिए।

''अँधेरे के पार'' पढ़ते हुए मुझे बार-बार एक गीत याद आ रहा था...

''दुनिया में कितना गम है,मेरा गम कितना कम है, औरों का गम देखा तो,मैं अपना गम भूल गया...''

यूँ तो हम सब को अपना दु:ख ज़्यादा लगता है। लेकिन कई बार आप दूसरे के दु:ख को देखेंगे तो पाएँगे कि सबके आँगन में दु:ख पसरा हुआ है। कई बार जो व्यक्त नहीं करते उनका दु:ख भी बहुत बड़ा होता है। जीवन जीने का एक तरीका ये भी है और यहीं से होती है सच्ची सहानुभूति की शुरूआत। अँधेरे के पार देख पाना आसान नहीं है पर प्रज्ञा जी ऐसे बिम्ब रचती हैं कि उस पार साफ़ दिखाई देने लगता है। ये कहानी है दो ऐसे बुज़ुर्गों (एक स्त्री एक पुरुष) की जो पड़ोस में रहते हैं। जिनके

जीवनसाथी बहुत पहले उन्हें छोड़ कर चले गए थे। एक दूसरे की मित्रवत् मदद करते हुए उन्होंने अपने बच्चे पाले, बड़े किए लायक बनाए और फिर ...। ये कहानी दो मुद्दों को लेकर आगे बढ़ती है। एक तरफ तो ये उन बुज़ुर्गों की बात करती है जिनके बच्चे उन्हें अकेला छोड़ कर अपनी ज़िन्दगी में व्यस्त हो गए और दूसरी तरफ ये उन बुज़ुर्गों की समस्या पर भी बात करती है जिनके बच्चे उनके साथ रह रहे हैं पर उन पर आश्रित हैं। जिन बुज़ुर्गों के बच्चे उनके पास हैं पर किसी न किसी कारण से आश्रित हैं उन्हें वृद्धवस्था में भी ज़िम्मेदारियों से मुक्ति नहीं मिल पाती। यहीं पर ये कहानी बुज़ुर्गों के अकेलेपन पर लिखी हुई तमाम कहानियों से अलग हो जाती है। अँधेरे के उस पार के जिस सूत्र पर प्रज्ञा ने संवेदनाओं की रौशनी डाली है उसके लिए वो बधाई की पात्र हैं।

जब हम पितृसत्ता की बात करते हैं तो हम इसका सीधा मतलब पुरुषों द्वारा स्त्रियों पर किए गए अत्याचार समझ लेते हैं। लेकिन सत्ता तो सत्ता ही होती है और अगर ये सत्ता एक स्त्री के हाथ में हो तो... तो एक स्त्री भी पितृसत्तावादी सोच में ढल जाती है और दूसरी स्त्रियों के प्रति सामन्ती व्यवहार करने लग जाती है। अक्सर इसके ऊपर जो कहानियाँ लिखी गईं वो या तो मालिक और मुलाज़िम के रिश्ते पर थीं या सास-बहु, नन्द-भाभी आदि रिश्तों पर। लेकिन क्या माँ-बेटी का रिश्ते में भी ऐसा हो सकता है? ''परवाज़'' कहानी कुछ ऐसी ही कहानी है जिसका अंत एक झटका देता है। ये फार्मूला कहानी नहीं है। ये सच्चाई के करीब की कहानी है। अगर आप आज की युवा लड़कियों से बात करेगी तो कई का सच (भले ही उनके कारण अलग -अलग हों) इस कहानी के करीब है। पितृसत्ता का जो स्त्री चेहरा उभर कर आया है ये कहानी उस और ध्यान आकर्षित करती है।

कहानी ''पिछली गली'' बढ़ते मॉल कल्चर के लोकल हाट पर प्रभाव को दर्शाती है। जहाँ पहले साप्ताहिक सब्ज़ी बाज़ार लगता था वहाँ अब मॉल बनना है। इसलिए तमाम सब्ज़ी वाले वहाँ से विस्थापित कर पिछली गली में वो बाज़ार लगाने को विवश है। किस तरह से वो वहाँ पर समस्याओं से जूझते हैं इसका सटीक चित्रण है। विकास के नाम पर पूँजीपतियों की जेब भरने के क्रम में सर्वहारा ग़रीब जनता का रोज़गार किस तरह से छीना जा रहा है। एक दृश्य देखिए-

''क्या हम ही बदनुमा दाग़ हैं इस शहर पर? सड़क सिर्फ इन गाड़ियों के लिए है ? हम कहाँ जाएँगे ?''

''जाने दो ना मम्मा ! ऑनलाइन सब मिलता है। यू डोंट वरी! न कहीं जाने का झंझट न कोई परेशानी और आपको खुद ही लाना है तो कितने वीजी स्टोर्स भी हैं न ?''

''ज़िन्दगी के तार'' कहानी दो स्त्रियों की कहानी है जिनकी ज़िन्दगी के तार समस्याओं में उलझ गए हैं। उनमें से एक हिम्मत कर के खुद ही निकलती है फिर दूसरी के लिए प्रेरणा भी बनती है। अगर दमन स्त्री के जीवन का एक सच है तो उससे निकलने की जद्दोजहद भी उसी को करनी होगी। किसी मसीहा की प्रतीक्षा करने के स्थान पर उसे खुद ही संघर्ष करके अपनी गृहस्थी को सँवारना होगा। और वो ऐसा कर सकती है बस उसे अपने ऊपर और अपनी मेहनत पर विश्वास करना सीखना होगा।

और अंत में मैं यही कहूँगी कि प्रज्ञा के इस कहानी संग्रह 'मन्नत टेलर्स' में हर कहानी किसी समस्या के प्रति संवेदना जगाने में और उसके समाधान को खोजने के प्रयास में है। ये कहानियाँ काल्पनिक नहीं हैं। ये आम जीवन की कहानियाँ हैं जिन्हें हम-आप रोज़ देखते हैं, सुनते हैं, जीते हैं पर सोचते नहीं हैं। इनके प्रति गंभीरता से चिंतन करने को विवश करती प्रज्ञा एक सच्चे साहित्यकार के धर्म का पालन करती हैं। ये कहानियाँ किसी एक व्यक्ति की कहानी नहीं हैं ये एक विशाल वर्ग का प्रतिनिधित्व करती हैं। इस संग्रह की खास बात ये है कि हर कहानी एक दूसरे से भिन्न है। इनमें कहीं भी दोहराव नहीं है। साहित्य भण्डार से प्रकाशित 148 पन्नों में सिमटी 11 कहानियों को आप एक झटके में आसानी से नहीं पढ़ पाएँगे। क्योंकि हर कहानी आपको रोकेगी, अपने मंथन का एक ज़रूरी समय लेगी। उस ठहराव के बाद ही आप अगली कहानी पर बढ़ पाएँगे। अगर आप सार्थक साहित्य के अनुरागी हैं तो ये ''मन्नत टेलर्स'' आपके लिए मुफ़ीद है।

000

पुस्तक चर्चा

हिंदी वृहद् व्याकरण कोश

समीक्षक : सचिन तिवारी

लेखक : डॉ. के.आर. महिया एवं डॉ. विमलेश शर्मा

प्रकाशक : ज्ञान-वितान प्रकाशन

वर्तमान युग की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए हिंदी के उत्थान एवं संवर्द्धन हेतु डॉ. के. आर. महिया एवं डॉ. विमलेश शर्मा ने 'हिंदी वृहद् व्याकरण कोश' की रचना की है। सात सौ पचास पृष्ठ की इस पुस्तक को आठ खंडों में विभाजित किया गया है। प्रथम खंड में भाषा परिचय एवं विषय-प्रवेश दिया गया है। द्वितीय खंड में शब्द-व्युत्पत्ति पक्ष जिसके अंतर्गत संधि, समास, उपसर्ग, प्रत्यय - इन शब्द निर्माणक पक्षों का उल्लेख किया गया है। तृतीय, चतुर्थ व पंचम खंड में क्रमशः विकारी, विकारक व अविकारी तत्त्वों का विश्लेषणात्मक पक्ष सम्मिलित किया गया है। पष्ठ खंड में वाक्य विश्लेषणात्मक पक्ष, सप्तम खंड में शब्द संपदा विचार तथा अष्टम खंड में भाषा के वैधानिक एवं लोक व्यावहारिक पक्ष को रखा गया है।

000

सचिन तिवारी, 21, वार्ड क्रमांक-4, मेन मार्केट सुठालिया, जिला-राजगढ़, मप्र, 465677
फ़ोन : 07374-238503

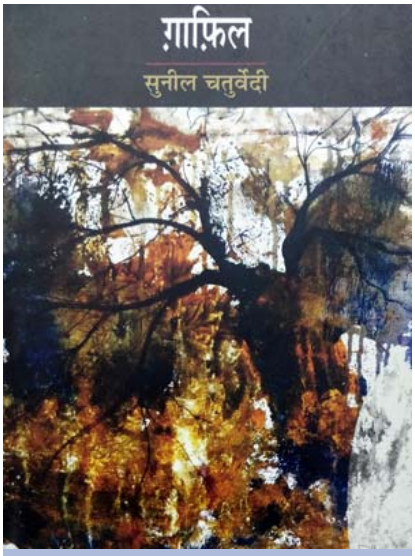

पुस्तक समीक्षा

ग़ाफ़िल

समीक्षक : प्रकाश कांत
लेखक : सुनील चतुर्वेदी
प्रकाशक : अंतिका प्रकाशन, ग़ाज़ियाबाद

प्रकाश कांत, 155, एल.आई.जी., मुखर्जी नगर, देवास-455001 (म.प्र.)
मोबाइल : 9407416269

एक दौर था जब वर्गान्तरण के मुद्दे को लेकर काफ़ी चर्चा-बहस हुआ करती थी। वर्गान्तरण-क्लास माइग्रेशन! वैसे वर्ग की अवधारणा और सैद्धांतिकी हमारे यहाँ काफ़ी बाद में आई। हमारे यहाँ वर्ण तो था- वर्ग नहीं। वर्णों की सदस्यता का आधार शुरू में भले ही कर्म रहा हो लेकिन बाद में जन्म हो गया। अपने शुरूआती दौर में वर्ण जब तक श्रम विभाजन पर आधारित रहा, उसका ढाँचा भी लचीला बना रहा। तब काम बदलने पर वर्ण भी बदल जाता था। जन्म इसमें अवरोध नहीं था। बाद में जब उसका निर्धारण जन्म के आधार पर होने लगा, उसका लचीलापन खत्म हो गया। समाज का आर्थिक विभाजन स्थाई रूप से सामाजिक विभाजन बना दिया गया। व्यवसाय इससे पहले की तरह ही जुड़े रहे लेकिन अब उन्हें बदलने की सुविधा खत्म हो गई। विराट् अवतार की परिकल्पना ने उसे धार्मिक आधार और तर्क उपलब्ध करवा दिए। उसी के बाद उसकी गतिशीलता खत्म हो गई। और धीरे-धीरे जड़ता आने लगी। जाति व्यवस्था उसी से जन्मी। जिसमें सब से ज़्यादा शोषण और अन्याय श्रमजीवी जातियों ने भुगता। अपमान भी। पीढ़ी दर पीढ़ी। सैकड़ों साल से! इसलिए डॉ. राममोहन लोहिया ने भारतीय समाज में वर्ग उन्मूलन के पहले वर्ण उन्मूलन की ज़रूरत पर ज़ोर दिया था।

'वर्ग' वर्ण की तुलना में बहुत बाद की और आधुनिक चीज़ है। दरअसल यह औद्योगिक क्रांति के बाद अस्तित्व में आई और विकसित हुई सामाजिक संरचना है। जिसका आधार आर्थिक था। यूरोपीय समाज में औद्योगिक क्रांति के बाद ही वर्ग बने। जिन्हें 'हेव्ज़' और 'नॉट हेव्ज़' के रूप में भी वर्गीकृत किया गया। हालाँकि, इनके भीतर भी कुछ वर्ग रहे। मार्क्सवादी दर्शन में पूँजीवादी व्यवस्था की अंतिम परिणति सर्वहारा क्रान्ति के ज़रिये वर्गहीन समाज रचना के रूप में परिकल्पित की गई थी। जिसके आगे राज्यविहीन समाज की परिकल्पना की गई थी। इस वैचारिकी के अनुसार व्यक्ति का सोच और आचरण उसका वर्ग तय करता था। वर्ग बदलने के बाद ही इन दोनों में भी बदलाव आते थे। सुनील चतुर्वेदी का हाल ही में आया उपन्यास 'ग़ाफ़िल' वर्गान्तरण की ही कहानी है। एक सामान्य सब्ज़ी बेचने वाले का लड़का रघुनन्दन पढ़-लिख कर एक फैक्ट्री की मालकिन इन्द्रा का पति और इस तरह ख़ुद भी मालिक बन जाता है। उसे शुरू से ही अपने घर-परिवार के छोटेपन से चिढ़ है। यह चिढ़ धीरे-धीरे एक खास तरह की घृणा और ग़ुस्से में बदल जाती है। जबकि, वह जो कुछ भी बन पाता है वह इसी घर-परिवार और आसपास के तथाकथित छोटे-मामूली लोगों के सहयोग-सहायता से ही। उसमें शुरू से ही ख़ुद के महत्त्वपूर्ण होने का बोध है। इसी के चलते उसे कई चीजें पसंद नहीं हैं। पिता का भरे-बाज़ार में अपनी सब्ज़ी के ठेले से उसे आवाज़ देकर बुलाना, बहन की शादी गली-मोहल्ले के सहयोग से होना वग़ैरह। घर में चारों ओर मौजूद मामूलीपन उसे चिढ़ाता है। यह सब उसे परेशान करने वाला ही नहीं बल्कि अपमानजनक भी लगता है। इसीलिए वह अपने एक भी मित्र को घर नहीं लाना चाहता। उसे अपने आसपास का कुछ भी पसंद नहीं। वह इस बजबजाती बदहाली से मुक्त होकर, सब को छोड़-छाड़कर एक चमकीली दुनिया में चले जाना चाहता है। उसकी इस आत्मघाती अतिमहत्त्वाकांक्षा से प्रेमिका गायत्री उसे छोड़कर चली जाती है। यहाँ तक कि आगे चलकर उसकी पत्नी और फैक्ट्री मालिकन भी उसकी इस महत्त्वाकांक्षा से चिढ़

महसूस करने लगती है। इस कभी ख़त्म न होने वाली रेस में उसका लगातार बने रहने का ही नतीज़ा रहता है घर में गिर कर कोमा में चले जाना। उपन्यास रघु के कोमा में शहर के सबसे महँगे अस्पताल में उस एडमिट किए जाने से शुरू होती है। अस्पताल चैरिटी है। लेकिन दिखाने भर को। डॉ. तापड़िया मरीज़ पर लगातार प्रयोग करते हैं। उन्हें मरीज़ के ठीक होने की पूरी उम्मीद है। दूसरी ओर हैं, बेटा-बहू आकाश-सुरभि! वे विदेश यात्रा पर जाने के अपने कार्यक्रम में आए इस आकस्मिक व्यवधान को लेकर परेशान हैं। अन्ततः रघुवीर ठीक हो जाते हैं और अस्पताल से ग़ायब हो जाते हैं।

उपन्यास की कथा दो स्तर पर चलती है-पहला, वर्तमान जिस में एक महँगे चैरिटी अस्पताल की लूटपाट वाली दुनिया है। इस दुनिया में डॉक्टर-नर्स का प्रेम प्रसंग है, मरीज़ों से ज़्यादा-ज़्यादा पैसे निकलवाने के हथकण्डे हैं, आकाश-सुरभि के बीच के तनाव हैं। दूसरा स्तर है रघु का अतीत जो कोमा के दौरान भी स्मृति में झिलमिलाते असम्बद्ध दृश्यों के माध्यम से सामने आता है। रघु के घर-बचपन से लेकर सफलतम उद्यमी पिता और दादा होने तक का। इसमें माँ-पिता, दादी, बड़ी बहन सुमित्रा, दोस्त राजा, प्रेमिका गायत्री और गली-मोहल्ले के वे सारे लोग जो सिर्फ़ रघु के परिवार के हर सुख-दुख में हिस्सेदार रहे बल्कि रघु के निर्माण में भी शामिल रहे। ज़िन्दगी की जद्दो-जहद में लगा आत्मीय संसार दूसरा है, समृद्धि-चकाचौंध में डूबा एक नकली संसार! एक संसार कोमा के भीतर खुलता है, दूसरा कोमा के बाहर। कोमा के संसार में हल्का-सा पश्चाताप है, अपराधबोध है जो कोमा के दरमियान उभरे दृश्यों में व्यक्त होते हैं। कोमा के बाहर का संसार बिलकुल आज का है। जिसमें बेटे की अपनी निजी और व्यावसायिक व्यस्तताएँ हैं तो बहू की व्यावहारिक लेकिन संवेदनहीन इच्छाएँ भी हैं। इन दो भिन्न संसारों में आवाजाही करते सुनील अपनी ओर से सीधे कोई टिप्पणी नहीं करते। मानवीय सम्बन्धों में आई गिरावट और हिसाबी-किताबी पन पर जो टिप्पणियाँ हैं वे वार्ड बॉय जैसे कुछ पात्रों की तरफ से हैं।

सुनील चतुर्वेदी का यह तीसरा उपन्यास है। तीसरे उपन्यास तक आते-आते उनके कथाकार का तेज़ी से विकास हुआ है। कथा के स्तर पर उनके यहाँ विविधता है। पहले के दोनों उपन्यास 'महामाया' और 'काली चाट' चर्चित रहे हैं। पहला उपन्यास 'महामाया' जहाँ मठ-महन्तों की आन्तरिक दुनिया का घिनौनापन उजागर करता है तो 'कालीचाट' छोटे किसान और सामान्य ग्रामीण की तो त्रासदियों को। उनका यह तीसरा उपन्यास इन दोनों से बिल्कुल अलग शहरी, सम्पन्न वर्ग के आंतरिक खोखले पन, पाखण्ड और अस्पतालों की दुनिया की लूट को उद्घाटित करता है। साथ ही, निजी महत्त्वाकांक्षाओं के चलते अपने लोग और अपने वर्ग से दूर होते जाने की रुग्ण मानसिकता को भी। कोमा में गए मरीज़ की भीतरी दुनिया के बारे में बात करने वाला संभवतः हिन्दी का यह पहला उपन्यास है। उपन्यास वर्तमान और अतीत एक साथ दोनों स्तरों पर चलता है। उपन्यास का वर्तमान रघुनन्दन के सफल बेटे-बहू के उच्चवर्गीय समाज और डॉ. राहुल जैसे डॉक्टरों द्वारा संचालित महँगे अस्पताल का वर्तमान है। जिसकी अमानवीयता पर अस्पताल के वार्ड बॉय की टिप्पणियाँ हैं। और उपन्यास का अतीत रघु नन्दन के कोमा में टुकड़ा-टुकड़ा असम्बद्ध स्मृतियों से उभरने वाला अतीत है। इन दोनों काल खण्डों के बिना प्रयास एक-दूसरे के विरुद्ध खड़े किए सुनील कुछ बुनियादी सत्य उद्घाटित करते हैं।

सुनील चतुर्वेदी के पास अपनी एक भाषा है। जो उनके तीनों उपन्यासों में तीन तरह से नज़र आती है। जिससे उनकी भाषा की रेंज भी पता चलती है। इस तीसरे उपन्यास की भाषा के भी अलग-अलग शेड हैं। जिसमें आभिजात्य से लेकर 'लोक' तक के सारे रंग देखे जा सकते हैं-अस्पताल और समृद्ध दुनिया से लेकर श्रमजीवी वर्ग की भाषा के रंग।

भाषा की ही तरह वे अपने उपन्यासों में कथा-कथन की भी अलग-अलग विधियों का उपयोग करते रहे हैं। बिखराव आए दिए बिना और कसावट का अपेक्षित निर्वाह करते हुए। एक साथ दो अलग-अलग समय और दो तरह के संसार की बात 'ग़ाफ़िल' सफलतापूर्वक कर पाता है।

000

लेखकों से अनुरोध

'शिवना साहित्यिकी' में सभी लेखकों का स्वागत है। अपनी मौलिक, अप्रकाशित रचनाएँ ही भेजें। पत्रिका में राजनैतिक तथा विवादास्पद विषयों पर रचनाएँ प्रकाशित नहीं की जाएँगी। रचना को स्वीकार या अस्वीकार करने का पूर्ण अधिकार संपादक मंडल का होगा। प्रकाशित रचनाओं पर कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जाएगा। बहुत अधिक लम्बे पत्र तथा लम्बे आलेख न भेजें। अपनी सामग्री यूनिकोड अथवा चाणक्य फॉण्ट में वर्डपेड की टैक्स्ट फ़ाइल अथवा वर्ड की फ़ाइल के द्वारा ही भेजें। पीडीएफ़ या स्कैन की हुई जेपीजी फ़ाइल में नहीं भेजें, इस प्रकार की रचनाएँ विचार में नहीं ली जाएँगी। रचनाओं की साफ़्ट कॉपी ही ईमेल के द्वारा भेजें, डाक द्वारा हार्ड कॉपी नहीं भेजें, उसे प्रकाशित करना अथवा आपको वापस कर पाना हमारे लिए संभव नहीं होगा। रचना के साथ पूरा नाम व पता, ईमेल आदि लिखा होना ज़रूरी है। आलेख, कहानी के साथ अपना चित्र तथा संक्षिप्त सा परिचय भी भेजें। पुस्तक समीक्षाओं का स्वागत है, समीक्षाएँ अधिक लम्बी नहीं हों, सारगर्भित हों। समीक्षाओं के साथ पुस्तक के कवर का चित्र, लेखक का चित्र तथा प्रकाशन संबंधी आवश्यक जानकारियाँ भी अवश्य भेजें। एक अंक में आपकी किसी भी विधा की रचना (समीक्षा के अलावा) यदि प्रकाशित हो चुकी है तो अगली रचना के लिए तीन अंकों की प्रतीक्षा करें। एक बार में अपनी एक ही विधा की रचना भेजें, एक साथ कई विधाओं में अपनी रचनाएँ न भेजें। रचनाएँ भेजने से पूर्व एक बार पत्रिका में प्रकाशित हो रही रचनाओं को अवश्य देखें। रचना भेजने के बाद स्वीकृति हेतु प्रतीक्षा करें, बार-बार ईमेल नहीं करें, चूँकि पत्रिका त्रैमासिक है अतः कई बार किसी रचना को स्वीकृत करने तथा उसे अंक में प्रकाशित करने के बीच कुछ अंतराल हो सकता है।

धन्यवाद

संपादक

shivnasahityiki@gmail.com

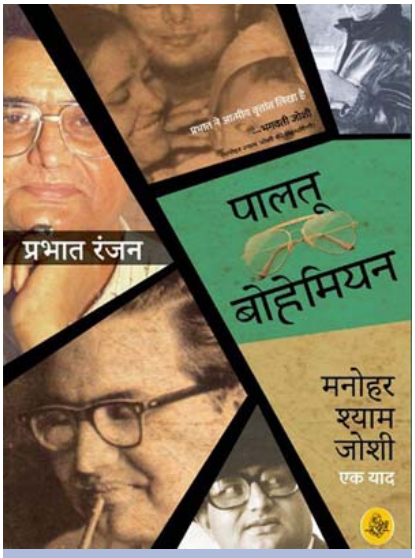

पुस्तक समीक्षा

पालतू बोहेमियन

समीक्षक : कमलेश पाण्डेय
लेखक : प्रभात रंजन
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली

कमलेश पाण्डेय, बी-260, पॉकेट-2, केंद्रीय विहार, सेक्टर-82, नोएडा, उप्र 201304
मोबाइल : 9868380502

''पालतू बोहेमियन'' के अंतिम अध्याय ने उस मनहूस दिन की सचमुच याद दिला दी, जब भागते हुये निगम-बोध घाट पहुँचने तक महफ़िल उठ चुकी थी। मनोहर श्याम जोशी के अंतिम दर्शन वहाँ जलती एक चिता से उठते धुँए में तो नहीं हो पाए, पर वहाँ बैठे-टहलते हिंदी साहित्य के नामचीन लेखकों के चेहरों और हाव-भाव में ज़रूर हुए। अच्छा हुआ कि स्मृति में उनसे हाल में ही हुई पहली और आख़िरी मुलाक़ात ही अंकित रही, जब श्री लाल शुक्ल के सम्मान में आयोजित एक समारोह में यूँ ही किसी के परिचय करा देने पर उन्होंने एक स्नेह-भरा आलिंगन और मुलाक़ात का वादा दिया था। हमारा इरादा अपनी पत्रिका 'लफ्ज़' को उनके विराट लेखन संसार से समृद्ध करने का था। उस मनहूस दिन के बाद हम इतना ही कर पाए कि उनकी कुछ रचनाओं से ही अगले अंक में उन्हें श्रद्धांजलि दी।

प्रभात रंजन जी की इस किताब की बाबत सुनने के बाद से ही उत्सुकता और उद्वेग के बीच कहीं इंतज़ार था। 'कुरु-कुरु-स्वाहा' को कुछ अबूझपन व हैरत के साथ, 'कसप' को एक नशे की हालत में और उनके सम्पादन में साप्ताहिक हिंदुस्तान के हर्फ़-हर्फ़ को चाव से पढ़ने के अलावा मैं जोशीजी के एक संग्रह 'उस देश का यारों क्या कहना' के आलेखों में झलकते तीव्र व्यंग्य बोध से घायल रहा। उनके तमाम उपन्यासों में भी जहाँ-तहाँ भाषा-शैली में चुभनेवाले अद्भुत विट से अचम्भित हुआ (अपने लिए 'पालतू बोहेमियन' जैसा जुमला रचना व्यंग्योक्ति की इंतिहा है)। बहरहाल ये जोशी जी की रचनात्मकता के समुद्र की लहरों की बहुआयामी उछालों की बस एक लय का ज़िक्र होगा। उनके बारे में सच कहूँ तो संस्मरणात्मक तो क्या उनके लेखन पर आलोचनात्मक भी नाम-मात्र का ही पढ़ा था। ऐसे में प्रभात की ये सौ पन्ने की किताब मिली तो एक ही बैठक में पढ़ गया। पहली प्रतिक्रिया में प्रभात से रश्क़ हो आया जो जोशी जी के स्नेह का इतना बड़ा कौर हासिल कर पाए। दूसरा ख़्याल ये आया कि निसंदेह प्रभात रंजन, जोशी जी के आकलन के अनुरूप ही संस्मरणात्मक लेखन में माहिर हैं। इन लेखों के प्रसंगों की बेतरतीबी में अद्भुत लय है, ईमानदार स्वीकारोक्तियाँ हैं, और है स्मृतियों को बयान करने में बेबाक़ी और निर्ममता भी, जो इस याद करने को शिद्दत और सच्चाई से किए होने पर यक़ीन दिलाते हैं। जोशीजी से अपनी मुलाक़ातों, सम्वादों और उनके व्यवहार के पर्यवेक्षण से उनके व्यक्तित्व का जो रेखाचित्र प्रभात ने उभारा है वह विश्वसनीय तौर पर एक विलक्षण प्रतिभा-पुंज का मानवीय रूप है।

इस छोटे से कलेवर की किताब की एक ख़ासियत मुझे ये लगी कि इसमें टेलीविज़न धारावाहिकों के बदलते दौर की पूरी कहानी उभरती है। माध्यम जोशीजी जैसा जीनियस और प्रारम्भ से लेकर डेढ़ दशकों तक शीर्षस्थ रहा लेखक हो, तो इस आख्यान का दस्तावेज़ी महत्त्व बन जाता है। प्रभात की सहज क़िस्सागोई वाले अंदाज़ ने इस संक्रमण की क्लिष्ट-सी कहानी को कहीं बोझिल नहीं होने दिया है। स्वस्थ और सरस मनोरंजन के माध्यम पर बाज़ार के कब्ज़े के ज़ाहिर परिणामों का पाठक को अच्छा-खासा अंदाज़ा मिला जाता है। जोशीजी के अधूरे रह गए विशाल रचना-कर्म का भी हिसाब इस किताब में मिलता है, जिसकी भरपाई मनोरंजन का बाज़ार शायद ही कभी कर पाए। पर सबसे महत्त्वपूर्ण जोशीजी की रचना-प्रक्रिया का, उनके प्रोफ़ेशनल और मेथोडिक मिज़ाज का ज़ायजा लिया जाना है जो लेखन की इन विशिष्ट शैलियों में उन्हें अपना आदर्श मानने वालों के लिए एक गाइड-बुक का काम कर सकता है। यहाँ बातों-बातों में ही जोशीजी अपने युग से बहुत आगे के रचनाकार सिद्ध होते हैं। प्रभात ने किताब के ढेरों प्रसंगों में उनके बहाने इस

विशेष रचना-कर्म की पूरी प्राविधि समझा दी है। 'पालतू बोहेमियन' को पूरा पढ़ जाने पर मुझे ये साहित्य और दृश्य-मीडिया मनोरंजन के बीच के पुल की नींव और निर्माण की रोचक कहानी लगी, जो साफ़ इंगित करती है कि बाद में उस पुल पर सिर्फ रंग-रोगन, अक्सर भद्दे और कुरूप भी, हुए और नकली जगमगाहटें ही टाँकी गईं।

'पालतू बोहेमियन' प्रभात रंजन की अपना रास्ता खोजने के संघर्ष की भी कहानी है, जो बड़ी ईमानदारी और साफ़गोई से लिखी गई लगती है। मैं खुद उनसे आधे दशक पहले ऐसे ही संघर्ष से गुज़रा था, बस यूनिवर्सिटी और फैकल्टी अलग थे। इस कथा से हर पीढ़ी के ऐसे व्यक्ति का सहज जुड़ाव हो जाता है, जो प्रतिभा के सहारे अपनी महत्त्वाकांक्षाओं को पाने की कोशिश में उलझे विकल्पों के जाल में फँसता है, समझौते करने को बढ़ता पर ऐन वक़्त पर पाँव खींच लेता है। उनके आदर्श और गुरु उनके विवेक पर पहरा सा देते रहते हैं। बहरहाल प्रभात रंजन की कहानी में कई रोचक प्रसंग हैं, और हैं कुछ साहसी स्वीकारोक्तियाँ अपनी रुचियों और लक्ष्यों के बारे में।

आज तथाकथित गम्भीर साहित्य जनमानस से थोड़ा और दूर हो गया है जहाँ अब साहित्य-विमर्श का अर्थ 'खग ही जाने खग की भाषा' के तर्ज़ पर अपने जैसों के समूह में बैठ कर वाग्विलास और परस्पर पीठ थपथपाई रह गया है। इसलिए जन-मानस अब अपना साहित्य-संसार खुद रच रही है। इंटर्नेट पर एक संतुलित साहित्यिक विमर्श रखने वाले 'जानकी-पुल' के जनक प्रभात लोकप्रिय साहित्य पर भी सार्थक बहस की सामग्री देते रहे हैं। ज़ाहिर है मनोहर श्याम जोशी जैसे युगद्रष्टा और प्रयोग-धर्मी रचनाकार ही उनके गुरु हो सकते थे।

इस किताब के जरिए प्रभात रंजन ने उन्हें एक सधी हुई, संतुलित और सच्ची श्रद्धांजलि दी है और हम जैसे मनोहर श्याम जोशी जी के लेखन के दीवानों को उनके बारे में ढेरों तथ्यात्मक सामग्री से भरा एक आत्मीय संस्मरण। मेरी ओर से उन्हें बधाई और आभार भी।

000

पुस्तक समीक्षा

झरोखा

समीक्षक : अपर्णा भटनागर
लेखक : पंकज त्रिवेदी
प्रकाशक : हिन्द युग्म, नई दिल्ली

हाथ में 'झरोखा' है और मैं देख रही हूँ - सारा आकाश, समूल धरती उन्मुक्त दिशाएँ .. एक बहुत बड़ा फ़लक ! ये झरोखा केवल पंकज त्रिवेदी का नहीं है .. इससे जो परिदृश्य देखने को मिलता है वह बोध कराता है कि घर के खुले गवाक्ष आपके दृष्टि-पथ को ग्राम, नगर, देश या फिर सारे ग्लोब से अनायास ही जोड़ देते हैं और चिंतन की सलिला स्वत: प्रवाहित होने लगती है। निबंधों को मैं कभी चाय की प्याली में छलकते देख रही हूँ, तो कहीं पान की सुर्खी में गुलकंद से तर; तो कभी छोटे से कैटरपिलर को तितली बनकर तितलियों के देश में उड़ता पा रही हूँ। ये छोटे-छोटे पर्व बनकर उल्लास पैदा करते हैं और लोकसंस्कृति की रंगोलियों में तन-मन सराबोर कर रहे हैं। पंकज त्रिवेदी एक ऐसे हस्ताक्षर हैं, जिन्होंने गुजराती भाषा के साथ हिंदी को भी समान स्नेह दिया और अपनी सहज शैली में जहाँ 'अगनपथ' जैसा लघु उपन्यास लिखा; वहीं आज 'झरोखा' निबंध-संग्रह उनकी गहन चिंतन दृष्टि का परिचायक है।

लेखक की कलम पगडंडियाँ बनाती है.. चौराहे काटती हैं और एक परियोजना की तरह प्रगति की ओर अग्रसर होती है। लेखक रंगों की बात करते-करते अंतर्मुखी हो उठते हैं और कहते हैं - 'विविध रंगों के साथ इंसान जीवन शुरू करता है और फिर जीवन की विविध मंज़िल पर एक-एक रंग को हलके हाथों से जीवन प्रवाह में बहा देना चाहिए', इस तरह से 'उत्सव हमारा जीवन है और रंग हमारी शान; फूल हमारी श्रद्धा हैं और पवन हमारा श्वास' जैसे ललित निबंध पंकज त्रिवेदी के हाथों से सँवर रहे हैं।

कभी-कभी लेखक का ये चिन्तक मन बालक की तरह मुखर हो उठता है और 'मेरे पास आकाश है' कहकर मचलता है। मुखौटे पंकज त्रिवेदी को रास नहीं आते इसलिए कहते हैं -'हाँ, मैं भी इंसान हूँ। मुखौटे तो ढेर सारे पड़े हैं मगर एक भी मुखौटा रास नहीं आता मुझे।' रास न आने के पीछे क्या तर्क देते हैं -'क्योंकि मेरे पास हरा-भरा खेत है, गुलाब है, चंदा है, तारे हैं और सूरज है, आकाश है और बादलों का ढेर है ...' एक बालक ही इस तर्ज़ पर झूमकर ऐसी बात कहेगा और फिर सरलता किसे न भाएगी !

रश्मि प्रभा ने लेखक की कलम के लिए जो ख़ास बात कही उसके समर्थन में उसे यहाँ लिखना समीचीन जान पड़ता है- 'झरोखा' अपने आप में एक हितोपदेश है, जो हमें हर महत्त्पूर्ण पहलुओं से अवगत कराता है।... हर पृष्ठ, हर भाव हृदय के हस्ताक्षर हैं।' पंकज त्रिवेदी का दिल घर में अधिक लगता है क्योंकि जिस आदर्श घर की बात 'घर मुझे ऐसा भाये' में करते हैं वह उनके पास है ...'संवेदना के बगैर घर नहीं बनता' बायरन की इस उक्ति को वह आपके, हमारे सुखी घर से जोड़ते हैं। 'मुंबई हो या पाटन' संवेदना की ये सम्पन्नता प्रेम से परमात्मा की ओर उन्मुख होती है और 'एक नए सूर्य के साथ...' चलकर 'आभासी प्रतिबिम्ब' बनाती दीख पड़ती है। हर पन्ना एक पड़ाव लगता है जिस पर ठहरने का जी करे, गुनने का जी करे और एक विश्राम के बाद फिर यात्रा।

000

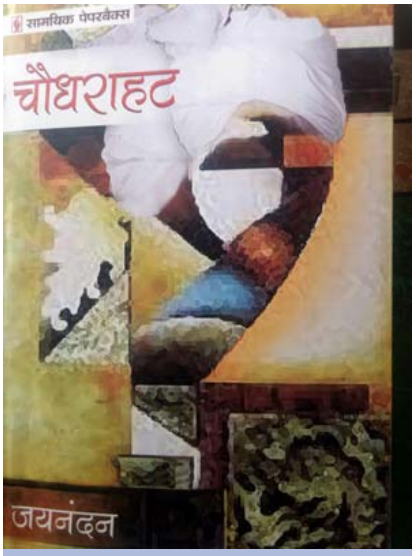

पुस्तक समीक्षा

चौधराहट

समीक्षक : नीलोत्पल रमेश
लेखक : जयनंदन
प्रकाशक : सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली

नीलोत्पल रमेश, पुराना शिव मंदिर, बुध बाज़ार, गिद्दी - ए, जिला-हजारीबाग, झारखण्ड- 829108 मोबाइल - 9931117537, 8709791120
ईमेल -neelotpalramesh@gmail.com

'चौधराहट' जयनंदन का छठा उपन्यास है जो हाल ही में प्रकाशित हुआ है। इस उपन्यास में जयनंदन ने दलितों को वाणी देने की कोशिश की है। हमारे समाज में दलितों को हेय दृष्टि से देखा जाता रहा है। उनकी थोड़ी भी छटपटाहट सवर्णों को रास नहीं आती है। वे सोचते हैं कि दलित यानी समाज का निकृष्ट आदमी, जो उनकी हर इच्छा की पूर्ति के लिए ही बना है। इनका समाज में कोई स्थान नहीं है। इनकी बहू-बेटियाँ सवर्णों के लिए ही जन्म लेती हैं। ये उनका शारीरिक शोषण वर्षों से करते आ रहे हैं। इस उपन्यास का नायक लोटन है जो डोम जाति का है। वह पढ़ा-लिखा नहीं है, फिर भी उसके अंदर की चेतना उसे उतरोत्तर अग्रसर होने की प्रेरणा देती है। वह रज्जाकगंज में घर-घर जाकर मैला उठाने का काम करता है। यानी रज्जाकगंज के मल-मूत्र को साफ करता है। उसकी पाँच बेटियाँ हैं जो बहुत ही खूबसूरत हैं और एक बेटा है। लोटन की बेटियों पर बबुआन टोले के लौंडे तो लट्टू रहते ही हैं, यहाँ तक कि वहाँ के बुज़ुर्ग भी इसमें पीछे नहीं हैं। अनेर चौधरी ज़मींदार रऊफ साहब का मैनेजर है जो उसकी बेटियों पर हमेशा निगाह टिकाए रखता है। वह तो उसका उपभोग करना ही चाहता है, उसका बेटा भी वही करना चाहता है। चौधरी साहब यानी अनेर चौधरी की यही सोच है कि दलितों की बहू-बेटियाँ उनके उपयोग के लिए ही जन्म लेती हैं। लोटन की बेटी सितिया ने उसे फटकारते हुए कहा था, ''अरे कमीना, राक्षस जिनगी भर तो तुमने दोगलई और पाप किया ही अब राम नाम लेने वाली इस बुढ़ौती की कुछ तो हया कर। परसों तुम्हारा कुल तारक बेटा जुगला पटा रहा था और तुम पर नशा चढ़ने लगा है। पता नहीं अपने घर में बेटियों-बहनों को भी बेदाग छोड़ा है या नहीं। छी: धिक्कार है रे बेलज्जत तुम्हारी चौधराहट पर।'' इसके बाद भी चौधरी अपनी नीच सोच और करनी से बाज नहीं आता है। पंचायत में उसकी बेइज़्ज़ती होती है। लेकिन वह हर चीज़ को दूसरी तरफ मोड़ने में माहिर है। वह अक्सर लोटन से बदले की आग में जलते रहता है।

रज्जाकगंज के ज़मींदार रऊफ साहब ने ही लोटन के पिता को यहाँ बसाया था। तब से उसका परिवार यहीं रहता आ रहा है। कई बार ऐसे मौके भी आए कि लोटन यहाँ से छोड़कर चला जाना चाहा लेकिन रऊफ साहब की सहानुभूति ने उसे जाने से बार-बार रोक दिया। रऊफ साहब ने ग्रामीणों की समस्याओं को देखते हुए एक अस्पताल की स्थापना की। उस अस्पताल में एक डॉक्टर और मेमिनों की बहाली की। इसकी साफ-सफाई का ज़िम्मा भी लोटन को दे दिया। लोटन साफ-सफाई के साथ डॉक्टर सलाम के साथ रहते-रहते कम्पाउंडरी का काम भी सीख लेता है। उसकी इस काम में लगन ने उसकी प्रसिद्धि यहाँ तक बढ़ा दी कि रऊफ साहब के जिस घाव के इलाज के लिए डाक्टर ने जवाब दे दिया था उसे लोटन ने अपनी मरहम पट्टी से कुछ ही दिनों में ठीक कर दिया। तब से रऊफ साहब की कृपा उस पर बनी रहने लगी। रऊफ साहब की लोटन के प्रति सहानुभूति से अनेर चौधरी जलते-भुनते रहता था कि कैसे वह रऊफ साहब की नज़रों में उसे नीचा दिखाए। लेकिन वह कहीं कामयाब नहीं होता है। वह बार-बार मात खाता है लेकिन अनेर चौधरी हार मानने वाला जीव नहीं था। वह हार-हार कर भी एक दलित लोटन को परास्त करने में लगा रहता है और अंत में धर्म को हथियार बनाकर लोटन को परास्त भी कर देता है।

डॉक्टर सलाम की मौत के बाद अस्पताल में डॉक्टर दोलन की नियुक्ति होती है। डॉक्टर दोलन की नियुक्ति के बाद अस्पताल में अनियमितताएँ बढ़ जाती हैं। दोलन स्वभाव से रसिक रहता है, अत: अपने जैसे चरित्र वालों के साथ उसकी खूब पटने लगती है। वहाँ के मुखिया और दबंगों के साथ मिलकर दोलन ने अस्पताल को ऐशगाह बना दिया। अब

मेमिन के द्वारा गाँव की बहू-बेटियाँ, जो सवर्णों की थीं, हवस की शिकार होने लगीं। इस बात की शिकायत सवर्णों ने रऊफ साहब से कर दी तो वे समझ गए कि लोटन ठीक ही कहता था। वे डॉक्टर दोलन को हटा देते हैं। फिर नए डॉक्टर की तलाश शुरू होती है कि वे स्वयं बीमार पड़ जाते हैं। बेटों की सलाह पर उन्हें राँची में ही रहना था तो अपनी ज़मीन बेच दी और अस्पताल को लोटन के हवाले कर दिया। हालाँकि इस काम के लिए उनके परिवार के लोग नाराज़ थे, फिर भी अपनी आख़िरी ख़्वाहिश बताकर लोटन को सौंप दिया। रऊफ साहब का यह कार्य अनेर चौधरी और उसके दोस्तों को अखरता है। वे अस्पताल की ज़मीन हड़पने की साज़िशें रचने लगते हैं। पर लोटन है कि अस्पताल के लिए लड़ता है। वह अपने बीडीओ दामाद के सहारे उसे सरकारी अस्पताल में बदलवाना चाहता है। लेकिन इस काम में वह सफल नहीं होता है। अनेर चौधरी उसके बेटे को बहला-फुसला कर अपने वश में कर लेता है।

लोटन अस्पताल के अस्तित्व को बचाए रखने के लिए संघर्ष करता है तो अनेर चौधरी अस्पताल की ज़मीन को हड़पने के लिए। उसने धर्म का सहारा लेकर अस्पताल परिसर में शिवलिंग प्रकट करवाकर वहाँ प्राचीन मंदिर होने की बात फैला दी और यह भी कि प्राचीन मंदिर को तोड़कर ही यहाँ अस्पताल बनवाया था ज़मींदार साहब ने। लोटन अस्पताल को सरकारी मान्यता दिलाने के लिए मुख्यमंत्री तक से मुलाकात करता है, अनशन करता है। उनसे आश्वासन मिलने के बाद भी अनेर चौधरी ने दबंगों के साथ मिलकर अस्पताल को तोड़कर उसकी ज़मीन पर कब्ज़ा जमा लिया। लोटन पराजित हो जाता है। यह सिर्फ लोटन की पराजय नहीं है, बल्कि जयनंदन ने इसके साथ-साथ सरकारी तंत्र के पराजय को भी इसमें दिखाया है। सरकारी तंत्र में घुन लग गया है। इसकी पोल खोलकर रख दिया है उपन्यासकार ने।

लोटन की पराजय दलितों की पराजय है। इनका अस्पताल के साथ जीवन-मरण का संबंध जुड़ा हुआ था। ये ही इससे लाभान्वित होने की आस में थे। ग़रीबी के कारण ये इलाज के लिए बाहर नहीं जा पाते थे, सवर्ण तो कहीं भी जा सकते हैं। लेकिन उनकी सारी आशाओं पर पानी फिर गया।

'चौधराहट' में लोटन की निम्नलिखित बातें आज की सच्चाई को उजागर करती हैं। वह बार-बार संघर्ष करता है और परास्त हो जाता है। लेकिन वह हार मानने वाला नहीं है। अगर उसका बेटा जुम्मा उसके साथ रहता तो परिणाम बदल भी सकता था। वह अपने बेटे जुम्मा से कहता है - ''चौधरी कोई शहंशाह नहीं है कि जो उसकी मरजी होगी, वही होगा। पुलिस, प्रशासन, सरकार, अदालत भी कोई चीज़ है, हम हर जगह गुहार लगाएँगे। हम लड़ेंगे चौधरी से, उसकी चौधराहट से।'' लेकिन जुम्मा लोटन को मना करता है फिर भी वह नहीं मानता है। वह अपने बेटे जुम्मा से कहता है - ''देखो बेटा, हमको उनकी कोई परवाह नहीं है। चौधरी को हम ताकतवर बस इसीलिए मान रहे हैं कि उसने तुम्हें फोड़कर अपने पक्ष में कर लिया है। तुम अब भी उसका पल्लू छोड़कर हमारी पीठ पर खड़ा हो जाओ, देखो फिर हम कैसे उसे धूल चटा देते हैं। रऊफ साहब ने हमको कहा था कि आज न कल चौधराहट चरमराएगी लोटन, अब वो टैम आ गया है बेटा।''

'चौधराहट' उपन्यास के माध्यम से जयनंदन ने दलितों के पक्ष को मज़बूती से पेश किया है। यह उपन्यास दलितों के दुख-दर्द की महागाथा प्रस्तुत करता है जिसमें उपन्यासकार को पूरी सफलता मिली है। उपन्यासकार ने इस उपन्यास के माध्यम से दलितों के सपनों को टूटते हुए दिखाया है। यह उपन्यास एक क्षेत्र की कथा नहीं कहता है बल्कि संपूर्ण भारत की कथा कमोवेश यही है। आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी हमारा समाज नहीं बदला है। उपन्यास की पठनीयता इसे बिना पूरा पढ़े छोड़ने नहीं देती है। 'चौधराहट' दलितों की महागाथा है।

जयनंदन की भाषा में प्रवाह है, जो पाठकों को बाँधे रखने में पूरी तरह समर्थ है। कथा कहने की शैली भी इनकी लाजवाब है जिससे मोहित हुए बिना कोई पाठक रह नहीं सकता। उपन्यास का शीर्षक 'चौधराहट' एकदम सटीक है।

000

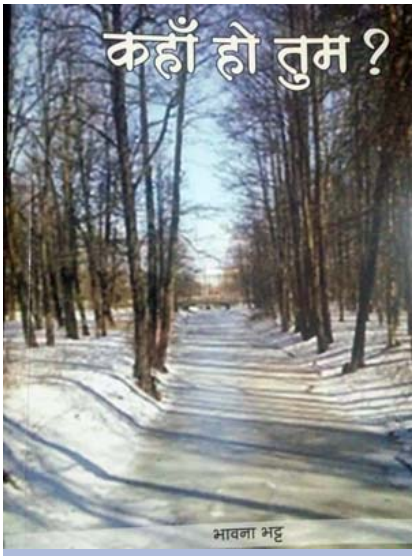

पुस्तक चर्चा

कहाँ हो तुम

समीक्षक : डॉ. रामसिया शर्मा
लेखक : भावना भट्ट
प्रकाशक : विश्वगाथा प्रकाशन

भावना भट्ट के प्रथम काव्य संग्रह ''कहाँ हो तुम ?'' की कविताएँ प्रश्न के साथ हल खोजती और समाधान भी सुझाती है। कविताओं की अनुभूति गहरी है, उतनी ही पैनी अभिव्यक्ति भी है! काव्य संग्रह बहु विषयी और बहु अर्थी होकर जहाँ सामाजिक व्यवहारों से युक्त है, वहीं सामाजिक बंधनों से मुक्ति की दार्शनिक चेतना भी लिए हुए है! यह दायित्वों का निर्वहन है, तो दायित्वों से मुक्ति का सहज संदेश भी! उनकी भाषा सहज व सरल है, उनकी शैली भावगम्य है। कवयित्री ने अपनी रचनाओं में स्नेह की अनुभूति को विभिन्न रंगों से चित्रित किया है। कवयित्री का स्नेह लौकिक होते हुए भी पारलौकिक है यह दृष्टिकोण जीवन की नश्वरता से जुड़कर उस अगम्य को प्राप्त करना जीवन की सार्थकता को सिद्ध करना यही तो ध्येय है उसका। काव्य के सभी गुणों को समाहित किए हुए हैं संग्रह की सभी रचनाएँ।

000

डॉ. रामसिया शर्मा, 19, वरुआ नगर,
पेट्रोल पंप के पीछे,ग्वालियर रोड, भिण्ड
मप्र पिन 477001,
मोबाइल 94075 80253

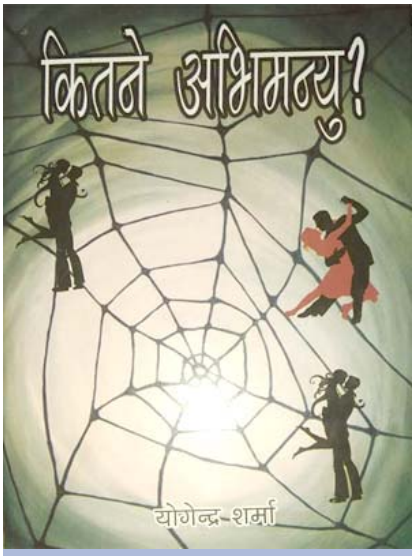

पुस्तक समीक्षा

कितने अभिमन्यु

समीक्षक : वेदप्रकाश अमिताभ

लेखक : योगेंद्र शर्मा

प्रकाशक : नमन प्रकाशन, नई दिल्ली

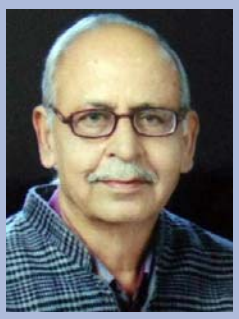

वेदप्रकाश अमिताभ, डी-131, रमेश विहार, अलीगढ़-202001, उप्र
मोबाइल : 9837004113

अनेक विचारकों और समीक्षकों का मानना है कि उपन्यास कोरा सामाजिक अनुभव नहीं होता, यह अनुभव वैयक्तिक भी होना चाहिए। इसीलिए 'जगबीती' के महत्त्व के बावजूद उपन्यास में 'आपबीती' का निषेध नहीं हुआ। योगेन्द्र शर्मा ने अपने पहले उपन्यास 'रूहेलखंड का गांधी' में बड़े सामाजिक कैनवास पर साम्प्रदायिक सद्भाव में बाधक चुनौतियों की पहचान की है। अपने दूसरे उपन्यास 'कितने अभिमन्यु' में वे परिवार की परिधि में अवमूल्यन, अमानवीयकरण जैसी विसंगतियों से टकराते हैं। ऊपरी तौर पर यह उपन्यास आदि से अंत तक आत्मकथा जैसा है, लेकिन 'जगबीती' या समाज-संपृप्ति से विच्छिन्न भी नहीं हैं। अनेक निजी अनुभव मिल कर जिस वृहत्तर सामाजिक अनुभव का रूप ले सके हैं, जिसमें पुरुष वर्चस्व, स्त्री-संघर्ष, क्षुद्र स्वार्थों के चलते मनुष्यता का क्षरण आदि कई ज्वलंत संदर्भ और तीखे सवाल संश्लिष्ट हैं।

'अपनी बात' में योगेन्द्र शर्मा ने इस उपन्यास को 'संयुक्त परिवारों के टूटने-बिखरने की गाथा' कहा है। हिन्दी उपन्यास में संयुक्त परिवार प्रेमचंद के ज़माने में ही चरमरा गया था। भगवतीचरण वर्मा, अमृतलाल नागर, यशपाल आदि के उपन्यासों में वह टूट गया है और उसे स्वाभाविक परिणति माना गया है। कुछ आँचलिक उपन्यासों में अवश्य इस टूटन को दुख और अफसोस के साथ उकेरा गया है। इस उपन्यास में योगेश और सरिता का संयुक्त परिवार में सबके साथ रहने का सपना चूर-चूर हो गया है अत: पूरे उपन्यास पर विषाद और अवसाद की घटा गहराई हुई है। इस विघटन के मूल में जहाँ कतिपय आर्थिक-सामाजिक दबाव हैं, वहीं कुछ मनोवैज्ञानिक कारण भी हैं। कभी परिवार के मुखिया का उच्छृंखल आचरण, परिवार की स्त्रियों का मानसिक, शारीरिक उत्पीड़न विच्छेद का निमित्त बनता है तो कभी दम्पतियों में रागात्मक और सूझबूझ का अभाव भी निर्णायक है। यह अकारण नहीं है कि उपन्यासकार ने 'एक और ग्यारह', 'एक धन एक', 'एक माइनस एक'- तीन तरह के दम्पतियों का उल्लेख किया है। योगेश-सरिता परस्पर पूरक हैं, योगेश के मम्मी-पापा दूसरी श्रेणी में आएँगें। शोभा और सुजीत का दाम्पत्य तीसरी कोटि का है। आज एकल परिवार भी क्षत-विक्षत हो गया है तो उसके पीछे तीसरे कोटि के दम्पतियों की भूमिका ध्यानाकर्षक है।

संयुक्त परिवार के सामंती ढाँचे में पुरुष वर्चस्व के चलते स्त्री के हिस्से में निरादर, अपमान, उत्पीड़न ही ज़्यादातर आए हैं। इस उपन्यास में जहाँ-तहाँ स्त्री संबंधी जो पुरुष सोच उभरा है, वह स्त्री-अस्मिता को आहत करने वाला है। 'एक कन्या बचपन से ही प्राय:

उपेक्षा सहती है। पहले भाइयों और पिता के अनुशासन में रहती है, फिर पति, फिर बेटों के अनुशासन में', 'तेरी हैसियत, एक बर्तन जैसी है, जिसे एक बार प्रयोग में लाने पर, वह अशुद्ध हो जाता है' जैसे उद्‌गार योगेश के पिता और जीजा जैसे पुरुषों की आचारसंहिता के प्रस्थान बिन्दु है। 'दीदी उस पुरुष प्रधान घर में, माँ की नहीं एक आया की भूमिका निभा रही थीं', यह वाक्य पढ़ी-लिखी पत्नियों की सद्‌गति का व्यंजक है। योगेश की माँ को समलैंगिक पति के साहचर्य में बहुत कुछ अप्रिय भोगना और झेलना पड़ता है। पति का निरंकुश अहंकार मानता है कि 'मैं तो मर्द हूँ, जो मेरे मन में आएगा, करूँगा।' उपन्यास में माँ की उपस्थिति जीवंत और सकारात्मक है, उसके प्रयासों से ही परिवार कम से कम ऊपरी तौर पर जुड़ा रहा है। माँ का देहावसान उपन्यास का मार्मिक प्रसंग है। मौत से आँख मिलाकर बात करने वाली, 'सजनवाँ बैरी हुइ गए हमार' गीत को बार-बार सुनती माँ पाठकीय स्मृति में देर तक बनी रहती है।

उपन्यास का एक बड़ा हिस्सा 98 प्रतिशत दिल और 97 प्रतिशत किडनी डैमेज के साथ अस्पताल में भर्ती योगशे के साले सुजीत के इर्द-गिर्द बुना गया है। यह प्रकरण जहाँ एक ओर खुदगर्ज़ी, संबंध भाव, क्षुद्रता आदि को अनावृत करता हुआ उपन्यास के 'विज़न'- आत्मीयता, अपनत्व की ज़रूरत- का प्रतिपादक है, वहीं अस्पताल- परिसर का विश्वसनीय चित्रण, विशेषत: डॉक्टरों की मनुष्यता का संदर्भ आश्वस्त करने वाला है। प्रसंगवश दंगों के दौरान की अमानवीयता, वीभत्सता का उल्लेख हुआ है और वहाँ भी उपन्यासकार की सकारात्मक दृष्टि ध्यान खींचती है। 'दंगों ने दो तरह के इंसान दिए, हिन्दू और मुसलमान', 'कौन सोच सकता था कि हिन्दू-सिख भी एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाएँगें' जैसे टिप्पणियों में एक संवेदनशील बुद्धिजीवी की खीझ और चिंता पढ़ी जा सकती है।

समूचा उपन्यास योगेश के अवलोकन बिन्दु से रचा गया है। 'मैं पात्रों को जीता जागता, बिना लाग-लपेट प्रस्तुत करने का हामी हूँ' यह लेखकीय प्रतिज्ञा उपन्यास की शक्ति है, सीमा भी। जो है, जैसा है, उसे 'यथार्थ' का पर्याय मानने और यथावत् लिख देने के लोभ ने उपन्यास के ढाँचे को शिथिल किया है। नैरेटर योगेश का चरित्र आत्ममुग्धता लिए हुए हैं, माँ, सरिता और शोभा जैसे चरित्र अवश्य उपन्यास की विषयवस्तु और विज़न में अपनी-अपनी भूमिकाओं में सटीक और जीवन्त हैं। उपन्यास की बनावट में भाषा सक्षम है, विशेषत: व्यंग्यात्मक कहन और बिंबात्मक स्पर्श प्रभावित करते हैं। व्यंग्य कहीं सीधा और मारक है- 'इंसान को हैवान बना दे वो दंगा' तो कहीं विनोद मिश्रित-'जब तक पुत्र रत्न की प्राप्ति नहीं हुई, पंडित जी ने धैर्य नहीं खोया'। 'जैसे जुए में हारे जुआरी, जैसे पराजित सेना', 'मंदिर के दिए जैसा', 'खौलते तेल के कड़ाह' आदि पदों में अलग-अलग मन:स्थितियाँ गुँथी हुई हैं और अभिप्राय-संप्रेषण में सहायक हैं। दमन की स्वाभाविक प्रतिक्रिया के लिए 'स्प्रिंग' का अप्रस्तुत एक से अधिक स्थलों पर है।

उपन्यास में 'मैं' का हस्तक्षेप कुछ अधिक है। साम्प्रदायिकता पर, स्त्री-मनोविज्ञान पर कई जगह टिप्पणियाँ कथा-प्रवाह को रोकती हैं। अच्छा होता कि ये विचारसूत्र 'नैरेटर' के एकालाप की जगह चरित्रों की बातचीत में घुलमिल कर आते पाठकों से संवाद और साहचर्य की शैली नई नहीं है लेकिन उपन्यासकार ने कई स्थलों पर उसका स्वाभाविक उपयोग किया है। 'लेखक सब जगह जा सकता है' के अधिकार-भाव से प्रेरित 'आइए चलते हैं', 'कान दरवाज़े पर लगाइए' जैसे निर्देश बार-बार मिलते हैं। उपन्यास का समापन अंश 'अतिरिक्त' सा है, सिर्फ उपन्यास के शीर्षक की व्याख्या हेतु जोड़ा हुआ लगता है। यह उपन्यास 'पता नहीं कब बुरी ख़बर मिल जाए' पर ठिठक जाता तो बेहतर था।

इसमें संदेह नहीं कि आज विमर्श-बहुल, विचारधाराक्रांत और घुमावदार उपन्यासों की भीड़ में यह मध्यवर्गीय आत्मकथात्मक आख्यान अलग सा स्वाद देता है। व्यापक अर्थ में इसमें 'परिवार' वर्तमान व्यवस्था का व्यंजक भी है, जिसके चक्रव्यूह में फँसे तमाम अभिमन्यु बाज़ारवादी लिप्साओं, अन्तर्विरोधों और क्षुद्रताओं से मुक्त नहीं हो पा रहे हैं।

000

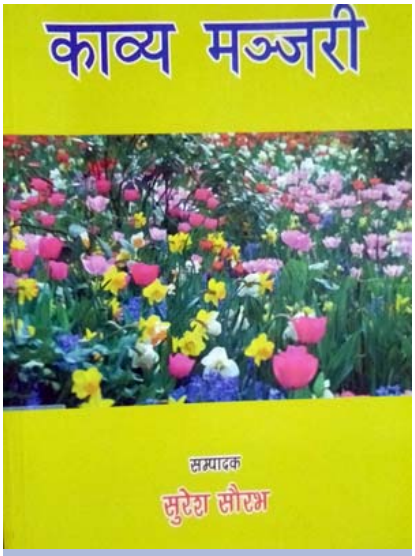

पुस्तक चर्चा

काव्य मंजरी

समीक्षक : संदीप सरस

लेखक : सुरेश सौरभ

प्रकाशक : नमन प्रकाशन

सुरेश सौरभ के सम्पादन में लगभग साठ रचनाकारों की रचनाओं का संकलन काव्य मंजरी के रूप में प्रकाशित होकर पाठकों के सम्मुख है। संकलन में जहाँ एक ओर वरिष्ठ साहित्यकारों की रचनाओं को स्थान दिया वहीं युवा संभावनाशील कलमकारों को भी लिया गया है। यह संतुलन किसी भी संकलन को उद्देश्यपरक साबित कर देता है। काव्य मंजरी में कुँअर बेचैन, अशोक अंजुम, इलियास चिश्ती, उदय प्रताप सिंह, गौरी शंकर विनम्र, चंद्रसेन विराट, घमंडीलाल अग्रवाल, डॉ. सुरेश उजाला, रोहिताश्व अस्थाना, प्रदीप चौबे, यश मालवीय, वाहिद अली वाहिद, रजनीसिंह, पुरुषोत्तम यकीन, धर्मेंद्र गुप्त साहिल, डॉ. सोनरूपा विशाल, चाँद शेरी, डॉ. मृदुला मृदु, डॉ. उमा कटियार, डॉ. महाश्वेता, डॉ. सुरेश शुक्ल, डॉ. निहारिका, ज्वाला प्रसाद गुप्त, ओम प्रकाश श्रीवास्तव गगन जैसे रचनाकारों का जुड़ाव संकलन को स्तरीयता देता है।

000

संदीप सरस, शंकरगंज, बिसवां (सीतापुर)
उ प्र-(261201)
मोबाइल: 9450382515
ईमेल : sandeep.mishra.saras@gmail.com

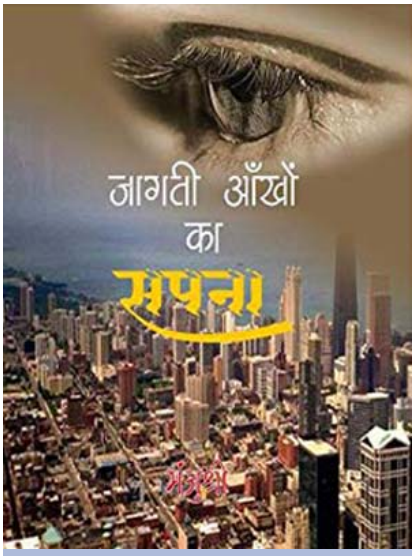

पुस्तक समीक्षा
जागती आँखों का सपना

समीक्षक : डॉ. रमाकांत शर्मा
लेखक : मंजुश्री
प्रकाशक : नीरज बुक सेंटर, नई दिल्ली

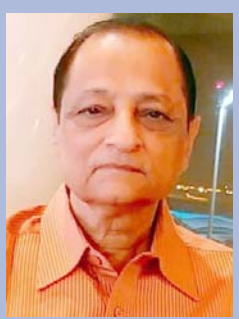

डॉ. रमाकांत शर्मा, 402-श्रीराम निवास, टट्टा निवासी हॉउसिंग सोसायटी, पेस्तम सागर, रोड नं. 3, चेंबूर, मुंबई-400089
मोबाइल : 9833443274,
ई-मेल : rks.mun@gmail.com

आदिकाल से कहानियाँ कही-सुनी जा रही हैं। बच्चे से लेकर वृद्ध तक को बाँधे रखने की जो ताकत कहानी में है, वह किसी अन्य विधा में नहीं है। इसीलिए पुरानी से पुरानी कहानियाँ ज़िंदा हैं और नई से नई भी। यह विधा अपनी अनूठी शिल्प-शक्ति के बल पर हमेशा शीर्ष पर बनी रही है। हाँ, समय के साथ-साथ कहानियों की विषय-वस्तु ने अपना स्वरूप ज़रूर बदला है। राजा-रानियों की कहानी और अपने में उपन्यास की आत्मा समेटे चलने वाली कहानी अब जीवन के किसी एक पक्ष को या फिर किसी एक अनुभूति को लेकर आकार लेती है और जीवन की नर्म सूक्ष्मताओं और कठोर विषमताओं को उद्घाटित करती हुई पाठक की संवेदनाओं को जगाने का काम करती है।

कल्पनामिश्रित सच्चाइयों की रहस्यात्मकता और रोचकता कहानी को पाठक के मन के समीप ले आती है। जीवन में कहानियाँ हर पल, हर दिन जन्म ले रही हैं। लेकिन, एक संवेदनशील व्यक्ति ही उन्हें महसूस करता है और उन्हें काग़ज़ पर उकेरता है। मंजुश्री भी उन्हीं संवेदनशील व्यक्तियों में से हैं। ''दो शब्द'' में वह लिखती हैं - ''हमारे आसपास इतनी घटनाएँ घटती रहती हैं और हर घटना कोई न कोई कहानी कहती है, जिनके पात्र हम और आप जैसे व्यक्ति ही होते हैं। अपने आसपास के परिवेश का हर किसी व्यक्ति पर प्रभाव पड़ता है, किंतु एक संवेदनशील व्यक्ति ही कहानी, कविता के रूप में अपने भावों को अभिव्यक्त करता है। मेरे पात्र काल्पनिक न होकर हमारे बीच के ही हैं।'' यही बात मंजुश्री की कहानियों को जीवंत बनाती है और उन्हें पाठकों के मन को छूने तथा उनके मन में संवेदनाएँ जगाने के लिए सहज प्रभाव उत्पन्न करती है।

संग्रह की पहली कहानी ''किरच'' मंजुश्री की लिखी पहली कहानी भी है। वर्ष 1972 में छपी उनकी यह कहानी आज भी नई लगती है। भावुक क्षणों में बिना सोचे-विचारे लिए गए निर्णय पर यह कहानी एक बड़ा प्रश्नचिह्न लगाती है। अहं का टकराव स्थिति को और भी विषम बना देता है, यहाँ तक कि परिवार बिखर जाता है और फिर पति-पत्नी दोनों के बीच सुलह का मार्ग अनचाहे ही अवरुद्ध होकर रह जाता है।

मध्यमवर्गीय संस्कारों में पला-बढ़ा कहानी ''ज़िंदगी में'' का नायक अच्छे-बुरे के बीच ही झूलता रहता है। जहाँ ऑफिस के उसके अन्य साथी रिश्वत के पैसों से मौज उड़ा रहे होते हैं, वहीं वह मध्यमवर्गीय ईमानदार व्यक्ति बीबी-बच्चों की फरमाइशों और तानों से कतराते-कतराते सबसे दूर किनारे पर सरकता चला जाता है। इस कहानी की एक विशेषता यह है कि इसे पढ़ते समय आँखों के सामने चित्र उभरता चलता है। एक बानगी देखिए - ''उसके पास ज़मीन पर बैठा ननकू भजिया के लिए बारीक-बारीक काँदा-बटाटा काट रहा था। लकड़ी के एक टुकड़े पर बहुत सारी बारीक धनिया कटी पड़ी थी। धनिया काटते-काटते लकड़ी का टुकड़ा बीच से पतला हो गया था और उस पर चाकू के बड़े-बड़े निशान पड़ गए थे।'' इसी तरह के बहुत से उदाहरण कहानी से लिए जा सकते हैं। आजकल की अधिकांश कहानियों में यह चीज़ दुर्लभ हो गई है।

कहानी ''अपना-अपना सुख'' ट्रेन में सवार एक स्वामी जी, उनके चेलों और सवारियों के अपने-अपने सुख पर केंद्रित है। स्वामी जी का सुख चेलों से सेवा कराने और उनसे अपनी जय-जयकार सुनने में, चेलों का स्वामी जी की सेवा करने में और भक्तों का सुख स्वामी जी से आशीर्वाद लेने में निहित है। यह कहानी इस बात को रेखांकित करती है कि हर व्यक्ति अपने लिए छोटी-छोटी बातों में छोटे-छोटे सुख खोज लेता है।

कहानी ''उस का सच'' पति से दैहिक सुख पाने से वंचित उस सुमन की कहानी है जिसे बाँझ होने के ताने सुनकर अपने जीवन से निराशा होने लगती है और वह हमेशा

मुरझाई रहती है। लेकिन, पति के दोस्त रंजन से वही सुख मिलने पर उसके चेहरे पर खुशनुमा संतोष दिखाई देने लगता है और अलग-सा ठहराव आ जाता है। अब वह अपने पति की पहले वाली, जलाकर मार डाली गई पत्नी की तरह दबी-सहमी नहीं रह जाती। यह सच उसके अक्षम पति और कुछ न कर पाने की स्थिति में उसकी सास बंतो को बेबस कर देता है। बंतो मौसी ने औरत होकर औरत को ठगा और अपने बेटे की शारीरिक कमी को छिपाने के लिए दो-दो औरतों का जीवन बर्बाद कर दिया। समाज में ऐसी स्थितियाँ यथार्थ में देखने को मिलती हैं। ज़रूरत इस बात की है कि स्त्री को बेवजह ताना देने के बजाय पुरुष के सच को स्वीकार किया जाए, स्त्री के मन और उसकी ज़रूरतों को सही परिप्रेक्ष्य में समझा जाए और उनका सही हल निकालने का प्रयास किया जाए।

अपनी समर्पिता पत्नी और दुधमुँहे बेटे को किसी और औरत के लिए छोड़कर चले जाने वाले बेनी बाबू को जब दूसरी पत्नी से उत्पन्न उनका अपना पुत्र वापस उनके पुराने घर के दरवाज़े पर ठंड में ठिठुरता छोड़ जाता है तब वे फालिज के मारे व्हील चेयर पर लाचार बैठे हुए थे। पिता की मृत्यु पर भी जो बेटा न आया हो उसकी करतूत से तिलमिलाई और घुट-घुट कर जीने वाली अम्मा और बड़ा भाई उसका लौटना स्वीकार नहीं कर पा रहे थे। बड़े भाई बड़कऊ का यह कहना बेनी बाबू को अंदर तक साल जाता है - ''साले को अब घर-द्वार की याद आई है जब किसी लायक नहीं रह गया। क्यों, निकाल दिया न उसने तुझ कंगाल को... अब उसके किस काम का। आ गया हम सबकी ज़िंदगी में जहर घोलने..... निकाल बाहर करो.....फेंको साले को बाहर सड़क पर.....।'' जिस पत्नी को भरी जवानी में बेनी बाबू छोड़ कर चले गए थे, वही उन्हें सँभालती है। वह न तो चीखती है, न चिल्लाती है, न कोई शिकायत करती है, निस्पृह, निर्लिप्त जैसे कुछ हुआ ही नहीं। यही बात बेनी बाबू को कचोटती है और उनके लिए सबसे बड़ी सज़ा बन जाती है। चुपचाप घंटों पश्चाताप के आँसू बहाने के अलावा उनके पास और कोई विकल्प नहीं बच रहता। इस पर अचानक पत्नी का निधन उन्हें बुरी तरह तोड़ देता है और वे अकेले शून्य में ताकते सज़ायाफ़्ता से बैठे रहते हैं। ''सज़ायाफ़्ता'' कहानी उन लोगों को सचेत करती है जो सिर्फ अपने स्वार्थ के लिए एक ग़लत कदम उठाकर पूरे परिवार को तो बेवजह सज़ा देते ही हैं, खुद भी ताज़िंदगी ''सज़ायाफ़्ता'' बन कर रह जाते हैं।

''बस अब बहुत हुआ'' कहानी मंत्रियों / बड़े अफ़सरों द्वारा लगाए जाने वाले जनता दरबारों के साथ-साथ लचर सरकारी व्यवस्था की पोल खोलती कहानी है। कहानीकार का आक्रोश इन शब्दों में व्यक्त होता है - ''ज़ंग खाए पहियों पर मंद गति से चलती सरकारी तंत्र की गाड़ी का बेजोड़ नमूना था यह जनता दरबार, जहाँ जनता को बेवकूफ बनाने की कवायद बड़े सलीके से की जाती थी।'' कहानीकार की यह चिंता जायज़ है कि आख़िर कब तक यह सिलसिला चलेगा? कब तक अपने से ऊपर वाला नीचे वाले को दबाता रहेगा इसे तोड़ने के लिए कब दबे-कुचले लोग अपने हक के लिए उठ खड़े होंगे?

बुरा काम करने वालों को ऊपर वाला कभी नहीं बख़्शता, यह संदेश देती कहानी ''परखच्चे'' पाठक को उन गलियों में ले जाती है जहाँ बदहाली, लालसा, ग़रीबी, बेबसी और अपराध का घना अंधेरा पसरा होता है। अपनी वासना और अन्य ज़रूरतों को पूरा करने के लिए अपनी नाबालिग भांजियों को देह व्यापार में ढकेलने के मंसूबे बाँधने वाले असलम को ऊपर वाला ऐसी सख्त सज़ा देता है जो दूसरों के लिए कड़ी नसीहत बन सकती है।

इस संग्रह की एक अन्य कहानी ''गुनाह'' बलात्कार की घटनाओं की त्रासदी के एक अनचीन्हे पक्ष को उद्घाटित करती है। जहाँ पीड़ित लड़की और उसका पूरा परिवार न किए गए गुनाह की सज़ा ज़िंदगी भर भुगतता है, वहीं गुनहगार का परिवार भी उसके गुनाह का बेवजह भागीदार बन कर समाज के तिरस्कार का पात्र बन जाता है और अनायास ही ऐसे गहरे दाग़ों से वाबस्ता हो जाता है, जो कभी नहीं धुल पाते।

बार-बार के गर्भपात के बाद जन्म लेने वाली अपनी बच्ची को खो देने के डर से किसी को भी उसे हाथ न लगाने देने वाली मिसेज़ बागची नर्वस ब्रेकडाउन का शिकार होकर दो साल से अस्पताल में भर्ती है। हालाँकि शारीरिक रूप से वह स्वस्थ हो चुकी है, पर डॉक्टरों के अनुसार अभी बच्ची को उसके साथ नहीं रखा जा सकता। वह वहाँ से घर लौटने के लिए बेताब है, पर उसे हमेशा और कुछ दिन वहीं रहने के लिए कहा जाता है। उससे मिलने आने वाले लोग और पति भी उसे जल्दी ले जाने का सिर्फ आश्वासन ही देते रहते हैं। उसे लगने लगता है कि सब उसके विरुद्ध साज़िश में लगे हैं। एक दिन रात के अंधेरे में वह वार्ड के खुले रह गए दरवाज़े से बाहर निकल आती है। बस उसे एक दीवार ही पार करनी होती है, जिसके पार उसका घर संसार था। पर, चाह कर भी वह उसे पार करने की हिम्मत नहीं जुटा पाती। ''एक और दीवार'' कहानी में नायिका की उक्त मनोस्थिति का बहुत बारीक विश्लेषण देखने को मिलता है। यह कथाकार मंजुश्री की मनोविश्लेषण-क्षमता का परिचायक है।

''सिटकनी'' कहानी बचपन में ब्याही उस दुल्हन की व्यथा कथा है, जिसे अपने पति की विमुखता झेलनी पड़ती है और वह एक ही घर में रहते हुए परित्यक्ता का जीवन बिताती है। उसका पति अपने कमरे में ही बंद भीतर से सिटकनी चढ़ाए रहता है। पत्नी पति की छुई किताबों को पलटती, सहलाती है और उनमें अपने पति की खुशबू तलाशती है। वह अचानक बिना बताए कहीं चले गए पति से एक अदृश्य डोर से बँधे रहने को ही अपनी नियति मान लेती है। पर, जैसे ही वह दूसरी पत्नी के चल बसने के बाद उससे जन्मी अपनी औलाद को लेकर वर्षों बाद घर लौटता है और फिर एक बार उसे तिरस्कृत कर और एक शादी कर लेता है तो वह अंदर से पूरी तरह टूट जाती है और हमेशा के लिए अपने मन के भीतर की सिटकनी लगा लेती है। कहानी पढ़ते समय पाठक उसके दर्द को महसूस करने लगता है। यही इस कहानी की सफलता है कि यह स्त्री की कोमलतम भावनाओं को टटोल सकी है...''सुन तो कान लगाकर...दीवार क्या बोलती है...और दीवार को धीरे-धीरे सहलाने लगती है...'' दरवाज़ों, दीवारों, किताबों के पन्नों में पति की छुअन को महसूस करती औरत के दर्द

को भी उजागर कर पाई है।

मुंबई सपनों का शहर है। हर भारतवासी की दिली तमन्ना होती है कि वह सितारों से जगमगाती मुंबई को अपनी आँखों से देखे। यहाँ के निवासी और काम-धंधे के लिए बाहर से आकर यहाँ रहने वाले लोग उन लोगों के दिलों में ईर्ष्या जगाते हैं जो सिनेमा, पत्रिकाओं और प्रचार-प्रसार के माध्यमों से बनी छवि को लेकर मुंबई की चकाचौंध से बुरी तरह प्रभावित होते हैं। एक करोड़ से ऊपर की संख्या में लोगों को पनाह देने वाली मुंबई अमीर लोगों के लिए तो सचमुच जन्नत से कम नहीं है, पर उन लोगों का क्या जो यहाँ रह कर दो वक्त की रोटी तो जैसे-तैसे जुटा लेते हैं, पर सिर पर छत के लिए तरसते हैं। ''लोग समझते हैं कि मुंबई में कोई कारू का खज़ाना गड़ा है, जिसे सब खोद लाएँगे।'' पर, जब उन्हें मुंबई में आशियाने के नाम पर एक खाट, एक बक्सा रखने की जगह, सड़क की पटरी, प्लेटफॉर्म की खुली जगह, गज भर की झोपड़ी, खुले पाइपों में या फिर कीड़े-मकौड़ों की तरह प्लेटफॉर्म के नीचे पटरी के सामने पत्थर हटा कर उनके नीचे बनाई गई संकरी छोटी खोखली जगह में रहते पूरे परिवार दिखाई देते हैं तो उनके रंगीन सपनों की जगह कैक्टस उग आते हैं। कहानी, ''जागती आँखों का सपना'' इसी सत्य से परिचित कराती है। निस्संदेह कोई भी सहृदय पाठक इसे पढ़कर विचलित हुए बिना नहीं रह सकता।

''सामने की बालकनी वाली लड़की'' सामान्य गति से चलने वाली और सुखद अंत वाली प्रेम कथा है। रूमानी वाक्यों से सजी यह कहानी पाठक को गुदगुदाती चलती है। एक उदाहरण लें - ''सुबह की हल्की खिली-खिली धूप में वह सुंदर रंग-बिरंगा नज़ारा देखने लायक था। ताज्जुब है, उसने कभी नोट ही नहीं किया था। वह लड़की भी अमलतास के पीले गुच्छों सी बालकनी में लटकी हुई थी।'' ऐसी प्रेम कहानियाँ अकसर पाठकों को अपने-अपने अतीत में ले जाती हैं और वे उनसे जुड़ जाते हैं।

इंसाफ़ पाने के लिए लोग न्यायालय की सीढ़ियाँ चढ़ते हैं। पर, उन्हें कुछ ही समय में यह अहसास हो जाता है कि वे एक ऐसे चक्रव्यूह में फँस चुके हैं जहाँ से बाहर निकलना कठिन ही नहीं, दुष्कर है। कहानी ''एक और अभिमन्यु'' इसी ओपन सीक्रेट को पुनः रेखांकित करती है। ज़मीन-जायदाद के झगड़े से घबरा कर घर-बार छोड़कर चले जाने वाले सत्येंद्र मिश्रा उर्फ सत्ते को उसके भाइयों ने मरा घोषित करा कर उसकी पूरी जायदाद हड़प ली थी। ज़िंदा आदमी काग़ज़ों में मुर्दा दफना दिया गया था। सत्ते स्वयं को जीवित घोषित करवाने के लिए वर्षों, यहाँ तक कि मरते दम तक केस लड़ता रहा, पर हमारा सिस्टम ही ऐसा है कि सामने खड़ा आदमी नहीं दिखता, उसे ज़िंदा मानने के लिए काग़ज़ी सबूत चाहिए। ''इंसाफ़ ने ही तो जान ले ली सत्ते की'' - कहानी का यह वाक्य सोचने को विवश कर देता है। हर दिन कितने ही अभिमन्यु पुलिस, थाना, तहसील, कोर्ट, कचहरी के चक्रव्यूह में फँसते हैं और फिर वहीं फँसे रहने के लिए अभिशप्त हो जाते हैं।

पुलिस वालों की कठिन ड्यूटी, उन पर ऊपर से पड़ने वाले दबाव तथा नेताओं की मनमानी और अहम् को व्यक्त करती कहानी ''हादसा'' इस सड़ी हुई व्यवस्था से दो-चार कराती है और पुलिसवालों की सामान्य छवि से अलग उनके भीतर छिपी सहज मानवीय भावनाओं को दर्शाती है।

मंजुश्री कहानी क्षेत्र की प्रतिष्ठित पत्रिका कथाबिंब के संपादन कार्य से जुड़ी हैं। निश्चित ही वे कहानी कला की पारखी हैं। उनका यह कहानी संग्रह ''जागती आँखों का सपना'' कहानी-कला में उनकी पारंगतता को सामने लाता है। वे सरल और पात्रों के अनुरूप भाषा-शैली में अपनी बात रखती हैं और सहज ही पाठकों से खुद को जोड़ लेती हैं। उन्होंने कहानियों के माध्यम से गंभीर विषय उठाए हैं और भली-भाँति उनका प्रतिपादन किया है। हर कहानी अलग विषय को लेकर लिखी गई है जो उपदेशात्मक न होते हुए भी बहुत कुछ सोचने पर विवश करती है। यह उनका पहला कहानी संग्रह है। आशा की जा सकती है कि उनकी सधी हुई लेखनी से निकली हुई सार्थक रचनाएँ निरंतर पढ़ने को मिलती रहेंगी।

000

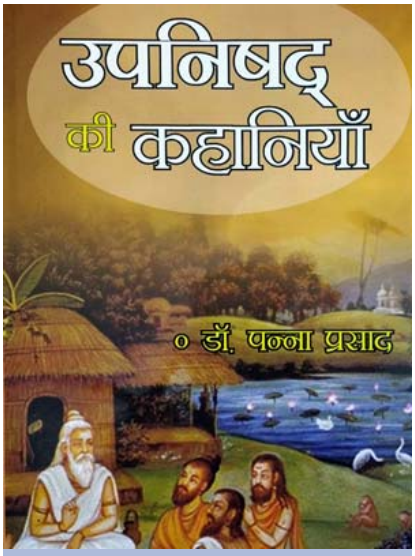

पुस्तक चर्चा

उपनिषद की कहानियाँ

समीक्षक : सचिन तिवारी

लेखक : डॉ. पन्ना प्रसाद

प्रकाशक : मंजुली प्रकाशन

डॉ. पन्ना प्रसाद की सद्यःप्रकाशित कृति 'उपनिषद् की कहानियाँ' मंजुली प्रकाशन, नई दिल्ली से प्रकाशित हुई है। इस संग्रह में कुल बीस कहानियाँ हैं, जो उपनिषदों में आए हुए विविध कथा-प्रसंगों का उद्घाटन करती हैं। 'उपनिषद् की कहानियाँ' में 'गोचारण से ज्ञान' नामक पहली कहानी सत्यकाम जाबाल की है, 'पृथिवी की उपासना' नामक कहानी ऋषि आरुणि की है, 'नचिकेता का हठ' नामक कहानी में बालक नचिकेता और यमराज का संवाद है, 'द, द, द' नामक कहानी में देव, मनुष्य और असुर; प्रजापति की इन तीनों संतानों के ज्ञान प्राप्त करने की कथा है। पुस्तक में वर्णित राजा जनक भारतीय संस्कृति और चेतना के प्रतीक पुरुष हैं। वे ब्रह्म ज्ञान, वैराग्य और भक्ति जैसे दार्शनिक विषयों से टकराते हैं और आश्रम व्यवस्था के सांस्कृतिक मूल्य तलाशते हैं। कुल 128 पृष्ठ की यह पुस्तक संग्रहणीय है।

000

सचिन तिवारी, 21, वार्ड क्रमांक-4, मेन मार्केट सुठालिया, जिला-राजगढ़, मप्र, 465677
फोन : 07374-238503

पुस्तक समीक्षा

कच्चा रंग

समीक्षक : डॉ. अनीता कपूर
लेखक : डॉ. पल्लवी शर्मा
प्रकाशक : यश पब्लिशर्स, नई दिल्ली

ईमेल: anitakapoor.us@gmail.com

परिवेश कोई भी हो....देसी या परदेशी, संवेदनशील मन की छटपटाहट, ज़िंदगी का कभी मुस्कुराना और कभी रूठना, जीवन की लकीरें - कभी पूर्णविराम और कभी अर्धविराम, कभी प्रश्नवाचक, सभी को कलम की नोक से भावनाओं की स्याही में डुबोकर कविताएँ लिखी जाती रही हैं। अच्छी कविता वही है, जो पाठक से सीधा संवाद करे। रचनाकार की पूरी मासूमियत को प्रमाता तक सम्प्रेषित कर दे। ऐसी ही रचनाओं के द्वारा अमरीका में बसी कवयित्री पल्लवी शर्मा की कविताएँ साहित्य की यात्रा करने-कराने का एक अनायास माध्यम बन गई है।

देश से विदेश तक कविता का हमेशा एक अपना ही क्षितिज रहा है। और अगर कवयित्री एक चित्रकार भी हो तो लेखन का केनवास क्षितिज से भी विशाल हो जाता है। उसी क्षितिज पर, भारत से दूर कैलिफोर्निया में बसी पल्लवी शर्मा अपनी एक प्रतिनिधि कविता ''प्रवाही'' में कथ्य और शिल्प के सहारे संवेदना और अपने परिवेश से दूर पुरानी बातों को याद करने वाले मन के बारे में लिखती हैं..... ''मन रेशम सा होता है/ तो कीड़े सा/ कुलबुलाने लगता है/ मौन खड़ा हो जाता है/ जब कचोटने लगती है पुरानी बातें/ वहीं रेहट के पास/ पानी सा बह जाता है।''

कहते हैं कि अगर किसी रचनाकार को जानना हो, तो उसकी लिखी कविताएँ पढ़ लें।

चूँकि पल्लवी शर्मा चित्रकार की नज़रें भी रखती हैं, इसीलिए उनको अपनी संस्कृति में भी सब प्रकार का रंग नज़र आता है। और यह कविता उनके इसी पहलू से हमारा परिचय कराती है..... ''चौराहे पर खड़ी संस्कृति/ मुँह ताकती है, लाल पीली बत्तियों का/ कौन सा रास्ता/ मेरी बस्ती को जाता है/ रौशनी की चकाचौंध/ फुटकारों की गर्द और गर्मी से/ हर बत्ती का रंग...बस हरा ही नज़र आता है।''

पटना से अमेरिका तक के सफ़र में कवयित्री पल्लवी शर्मा की कलम किसी भी कोमल, संवेदनशील मन को अपने साथ बहा ले जाने में सक्षम है। पीड़ा भी उभर आने के बावजूद, उनकी लेखनी में अनुभव की परिपक्वता महसूस होती है, जो लेखन की विशेषता है, और उन्हे दूसरों से जुदा करती है। अपनी कविता ''पोरस मन'' में वो लिखती हैं.....''अनंत इच्छाएँ/ ऊपरी परत के सूक्षम छिद्रों से बाहर निकाल कर/ कहती हैं अंदर की आँखें देखी/ हाड़ माँस/ गुर्दा मस्तिष्क और पता नहीं क्या क्या/ एक प्राण दो देह/ सात समुंदर/ नव ग्रह।''

पल्लवी शर्मा की कविताएँ काव्य-शिल्प, और काव्य-भाव की समस्त भूमिका ईमानदारी से निभाती हैं। अपनी एक कविता ''विचारों की सभ्यता'' में वे कहती हैं.....''शब्दकोश से चुराए अर्थों से/ बनाई गई विचारों की सभ्यता/ और माचिस की डिबिया में बंद/ विरासत में मिली कहानियाँ/ ताबीज़ में बंद थोड़ी से धूल।''

कवयित्री की कविताएँ, दिल से निकल कर, सीधे दिल में पहुँचती हैं। कवयित्री की अपने विषयों पर अच्छी पकड़ है। पल्लवी शर्मा की कविताएँ नारी के स्वाभिमान के प्रति, एक प्रकार की चेतना से भरी हुई दिखाई देती हैं। नारी को अपने अस्तित्व को तलाशते हुए, दर्द और उनकी पहचान चिह्न को उजागर करती एक कविता ''अपरिचित'' में वे कहती हैं..... ''अपने आप से अपरिचित/ खोईंचे में चावल, हल्दी और सूखी साबुत मिर्च/ पीले हाथ और माँग का सिंदूर/ एक चिह्न/ काले बालों के बीचों बीच/ एक लाल लकीर/ पहचानपत्र/ स्त्री।''

पल्लवी शर्मा के पास दृश्य-बंधों को सजीव करने वाली भाषा है, बिंबधर्मिता पर इनकी अच्छी पकड़ है जिन्हें कवयित्री ने ईमानदार कोशिश के साथ साँझा किया है। यह कवयित्री की बड़ी उपलब्धि है। कोई भी संवेदनशील व्यक्ति जब सिकुड़ता है तो अपने भीतर ही घुसने की कोशिश करता है और अगर वो व्यक्ति लेखक या लेखिका हो तो जब वो भीतर से वापस आता है, तो आपने साथ भावनाओं के मोती ले कर आता है; उसे अभिव्यक्त कर के कागज़ पर रचता है, तो वो कविता बनती है। पल्लवी शर्मा की भी अपने भीतर से आने पर ही शायद यह कविता जन्मी होगी....''अभी तो केवल विष निकला है/ अमृत धारा बाकी है/ मठ लेने दे सारा व्योम/ सारी धरा प्यासी है/ सारा व्योम मथने को/ अभी तो शुभारंभ हुआ है/ सारी लीला बाकी है।''

सच में एक स्त्री का उत्तरदायित्व निर्वहन बहुत ही कठिनतम कार्य है। आज के विद्युत-तरंग चालित युग में भी पुरुष की सोच पुरातन है, वही अहम है, जिसका प्रतिकार कवयित्री ने अपनी कविता ''ग्रे टोन्स'' की इन पंक्तियों के माध्यम से किया है...और नारी शक्ति को दर्शाया है....''हाथ उठा कर कह दिया थे मैंने/ जो कहूँगी सच कहूँगी/ सच के सिवा कुछ भी नहीं।''

आत्माभिव्यक्ति रचना की पहली प्रक्रिया है। इस अभिव्यक्ति के माध्यम कई हो सकते हैं। शब्द, रंग, रेखाएँ किसी भी माध्यम से, जिसमे रचनाकार को सहजता और सुविधा महसूस हो, रचना की जा सकती है। सर्जन की अदम्य लालसा, आत्मा की अभिव्यक्ति और विस्तार रचनाकार की विशिष्टता होती है। और यह पल्लवी शर्मा की कविताओं में साफ झलकता है।

पल्लवी शर्मा की कविताएँ और चित्र एक रफ़्तार से चलते हैं, जिसमें भाव-बिम्ब, संवेदना, नारी के मूल स्वरूप और सहज कोमल भावनाओं के साथ उसके हृदय में उमड़ते प्रेम को चित्रित करने का प्रयास किया है। सच्चा सरल भाव उनकी प्रत्येक कविता में दिखाई देता है, जो उनकी खूबसूरती बन जाता है। पल्लवी शर्मा की ज़िंदगी को सच्ची आँखों से देखने जैसी यह सरलता ईमानदारी की परिचायक है।

000

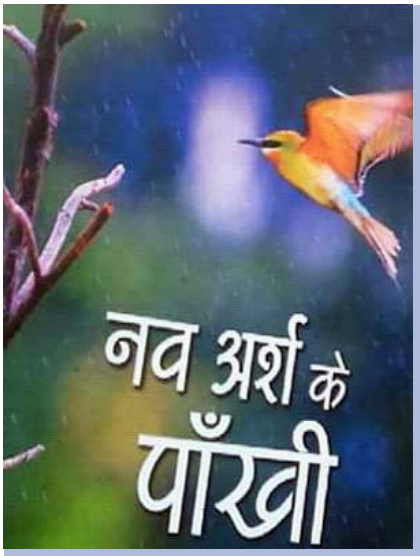

पुस्तक समीक्षा

नव अर्श के पाँखी

समीक्षक : सुभाष काबरा
लेखक : अनुपमा श्रीवास्तव अनुश्री
प्रकाशक : संदर्भ प्रकाशन

अनुपमा श्रीवास्तव अनुश्री की 89 छोटी-बड़ी रचनाओं का गुलदस्ता है 'नव अर्श के पाँखी'। इन रचनाओं को किसी एक तय साँचे में नहीं देखा जा सकता, देखने की ज़रूरत भी नहीं है क्योंकि खुद कवयित्री ने भी ये काम नहीं किया है। वो तो बस अपने भाव काग़ज़ पर उकेरती गई और पाठकों तक पहुँचने का प्रयास करती रही जिसमें अच्छी भाषा, सच्चे विचार, सार्थक शब्दों और प्रवाह ने अनु का भरपूर साथ दिया है। शीर्षक रचना ''नव अर्श के पाँखी'' में ही अनु ने अपना मंतव्य काफी हद तक साफ कर दिया है...''नूतन विहान चाहिए, संवेदनाओं भरा नया जहान चाहिए, अपनी गति से गतिमान अंतरमन के एहसास चाहिए!''

'आकाश का कोना' कविता में वे एक ईमानदार बात सहजता से कह जाती हैं...''आकाश जितना आपके पास/ उतना ही सबके पास/ कभी लगता है यह भी/ है सबके अपने-अपने आकाश/।'पावस उत्सव' कविता की ये ज़रूरी पंक्तियाँ हमारे दौर की ज़रूरत हैं...''आइए कर लें/ कुछ बहारें चोरी/ बन जाएँ बूँदों के हमजोली/''। भारतीय कविता में उजागर कड़वा सच भी पठनीय है ...''क्षनिक प्रलोभनों व आकर्षण में फँस कर/ हम अपनी सभ्यता और संस्कृति को दरकिनार करने लगते हैं/ उसका उपहास करने लगते हैं /। 'भागमभाग' कविता में इंसान के पत्थर होने की बात बड़ी सहजता से कह दी गई है...''किसको/ कहाँ/ लगी चोट/ ठोकर/ देखा ही नहीं पलटकर!''।'वक्त' कविता में गूढ़ अर्थों वाली ये पंक्तियाँ बहुत हट कर हैं ...''वक्त के पन्नों पर लिखी/ अनगिनत कहानी/ कभी इसकी ज़ुबानी/ कभी उसकी ज़ुबानी/ वक्त की मेहरबानी/।'कलम' कविता में अनु ने कलमकार का वो हुनर रेखांकित किया है जिसे लोग भूल जाते हैं ...''धन्य है सृजनकार/ पराई अनुभूतियों को भी/ हृदय में सीप की तरह सहेज/ कलम में पिरो देता है/''।

अनुश्री के रचना संसार से गुज़रते हुए एहसास होता है उनकी गहरी सोच और भावों को कम शब्दों में बाँध कर कही गई कहन का। हर रचना कोई ठोस बात रेखांकित करती है और वो भी खुद पर अति विद्वान और ज्ञानी होने का ठप्पा लगाए बग़ैर। जैसा कि रिवाज रहा है, कई गुणीजन इस किताब को भी अलग-अलग चश्मों से देखेंगे और आलोचना की दृष्टि से भी। लेकिन बतौर पाठक मुझे अनु की ये किताब सामान्य पाठकों से संवाद करती हुई लगती है। इसकी रचनाएँ एक साथ पढ़ने के लिए नहीं हैं। आप फुर्सत के लम्हों में एक-दो रचनाएँ पढ़ते चले जाएँ तो अनु हर वो बात आप तक पहुँचाने में कामयाब होंगीं जो उनके अध्ययन, अनुभव और सोच का निचोड़ है। अनुश्री को इस किताब के लिए बधाई और यही दुआ कि-''अल्लाह करे ज़ोरे कलम और ज़ियादा !''

000

सुभाष काबरा, बी-8, खत्री अपार्टमेंट, स्कूल रोड, बॉम्बे टॉकीज़ लेन, मलाड वेस्ट, मुम्बई 400064, मोबाइल 9820153533

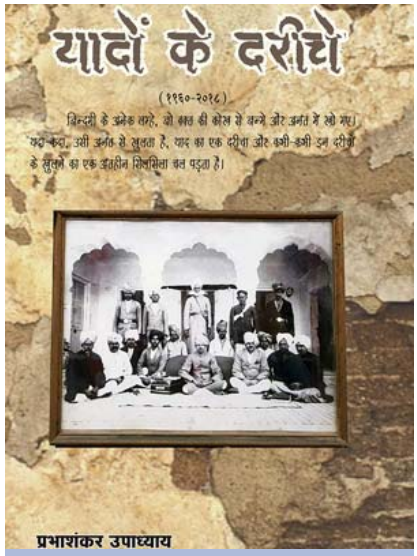

पुस्तक समीक्षा

यादों के दरीचे

समीक्षक : माधुरी

लेखक : प्रभाशंकर उपाध्याय

प्रकाशक : किताबगंज प्रकाशन

कहते हैं कि जीवन में आप जितनी यात्राएँ करते हैं आप उतना अच्छा लिख पाते हैं...लेकिन इस पुस्तक के लेखक प्रभाशंकर उपाध्याय ने कोई यात्रा इसलिए नहीं की कि उन्हें लिखने को कुछ सामग्री मिलेगी..बल्कि जहाँ-जहाँ जीवन की राह ले गई..वहीं से कुछ न कुछ बटोर लिया। बैंककर्मी होने के नाते राजस्थान के कई इलाकों में पोस्टिंग हुई, लिहाजा जिस इलाके में जाते इतिहास का रजिस्टर पूरा खँगाल देते। इस पुस्तक में आपको ऐसे ही तथ्य मिलेंगे, आपने कभी सोचा भी नहीं होगा कि आपके आस-पास भी ऐसा इतिहास रहता है। कोई लोक धुन आपकी पड़ोसी है। आप उसी हवा में साँस ले रहे हैं जहाँ कोई कलाकार भी साँस ले रहा होगा। आपके पैरों के नीचे की ज़मीं पर कभी किसी जंगल के निशाँ होंगे, कई घुड़सवार सिपाही दनदनाते गुज़रे होंगे या कोई फैक्ट्री यहाँ रही होगी। किसी पेड़, किसी चौराहे और किसी मंदिर के रहस्यों की कहानियाँ कहती है ये किताब।

आज की पत्रकारिता पर सवालिया निशान लगाती हुई इस किताब में पत्रकारिता से जुड़े कई क़िस्से, लेखक के बचपन की कहानियाँ, उनके बैंकिंग के अनुभव भी हैं वो भी एकदम दिलचस्प अंदाज़ में। हर वर्ग के पाठक के लिए रोचक। अगर बच्चा है तो बचपन लुभाता है, अगर विद्यार्थी या शोधार्थी है तो जानकारियाँ जुटा सकता है, उम्रशुदा नॉस्टेल्जिया महसूस कर सकते हैं। किताब डायरी की तरह डिज़ाइन की गई है, लगता है आप डायरी पढ़ रहे हैं, इतिहास तथा लेखक के 1960 से लेकर 2018 के 58 साल के संस्मरणों की।

यह झरोखा है, सवाईमाधोपुर, गंगापुर सिटी, बामनवास, करौली तथा हिण्डौन के इतिहास, संस्कृति, लोक ख़्याल, लोक नाट्य, लोक जीवन, साहित्यकारों, समाचार पत्रों, पत्रकारों और खेल-खिलाड़ियों से संदर्भित संस्मरणों का। उल्लेखनीय है कि इन लेखों का प्रकाशन पूर्व में 'बढ़ती कलम' में भी हो चुका है। साठ दशक पहले हो रही शादियों की एक झलक देखें- 'तब, वैवाहिक रस्में पाँच दिनों तक चलती थीं। उसके बाद वे तीन दिन तक की समयावधि में सिमट आई थीं और खास बात यह थी कि रिश्तेदार तथा बराती उन दिनों बोर नहीं होते थे जैसा कि आज कल एक दिन में ही हो जाते हैं बल्कि वे भरपूर मनोरंजन किया करते थे। बरात में जाने का भी अपूर्व उत्साह हुआ करता था। नए वस्त्र सिलाए जाते या पुराने वस्त्रों पर इस्त्री करा ली जाती थी। यह न हुआ तो पानी का छींटा मारकर लोटे से दबा दबा कर ही क्रीज़ बना ली जाती थी और फिर वस्त्रों को रात भर तकिए या किसी भारी वस्तु के नीचे दबाकर सो जाया करते थे। सुबह, बाल और दाढ़ी बनवाकर बराती टनाटन हो जाया करते थे। बरात की बस या बैलगाड़ियाँ रवाना होने से कुछ मिनट पूर्व ही कोई बराती बस अथवा बैलगाड़ी से उतर कर नदारद हो जाता, तो उसकी ढूँढ़ मचती और वह किसी नाई के पास हजामत करवाता पाया जाता था। यूँ तो जनवासे में वधु पक्ष की ओर से कम से कम एक नाई की ड्यूटी तो लगा ही करती थी। लेकिन वहाँ जाकर लोग बाग फिर से दाढ़ी बनवाते। जब नाई कहता कि मालिक! आपकी शेव तो बनी हुई है। उस बात पर बराती अपने अपने चिकने गालों पर हाथ फेर कर कहते, ''अरे खाँ (कहाँ) बनी है? नेक उल्टा उस्तरा चला कर सुलपट कर दे।'' और उसके बाद अपने सिर की खूब चम्पी करवाते। कुछ लोग तो संपूर्ण शरीर की मालिश भी करवा लिया करते थे।'

चलिए भोज्य स्थल के नज़ारे पर भी नज़रे इनायत कर लेते हैं- 'दरी, पट्टियों पर पंगत बैठ गई है। मिष्ठानादि परोसे जा चुके हैं किन्तु छत या चौक में बैठी हुई महिलाओं ने अपने गीतों से पत्तलें बाँध दी हैं- ''लड्डू बाँधू, इमरती बाँधू और जलेबी च्यार। पूड़ी बाँधू, कचौड़ी बाँधू और साग रसदार। रंग बरसैगो...।'' उसे खोले बिना आप भोजन कर नहीं सकते। इसलिए हर बरात में एक सिद्धहस्त पत्तल खोलने वाला अनिवार्य था अन्यथा भूखों मरने की नौबत आ जाए।'

इसी प्रकार से अनेकानेक व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक संस्मरणों को सहेजे यादों के दरीचे के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह सवाईमाधोपुर और करौली जिले के निवासियों के लिए यह पुस्तक एक दस्तावेज़ की भाँति है।

000

माधुरी
101/58, मीरा मार्ग
मानसरोवर
जयपुर (राजस्थान)302016
मोबाइल- 9414726890

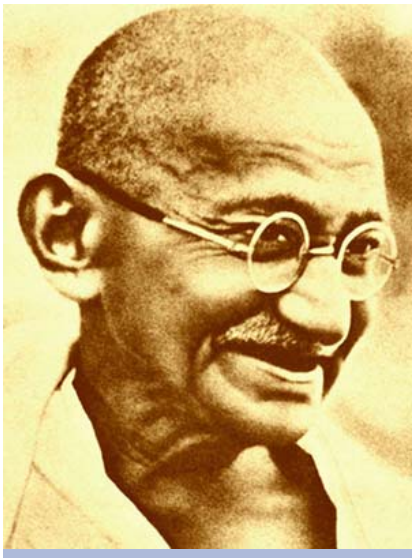

शोध आलेख

गांधी की पत्रकारिता का भारतीय मॉडल

डॉ. कमल किशोर गोयनका

महात्मा गांधी बौद्धिक संसार में अध्ययन के शाश्वत विषय हैं। गांधी का जीवन तो हम भूलते जा रहे हैं, किन्तु उनके विचारों की व्यापक दुनिया हमारा पीछा नहीं छोड़ रही है। नाथूराम गोडसे ने गांधी को तीन गोलियों से मारा था और हम विगत 70 वर्षों से उन्हें असंख्य गोलियों से मारते आ रहे हैं, परंतु गांधी है कि मरते ही नहीं। गांधी ने मशीनी सभ्यता के दुष्परिणामों के विरुद्ध विश्व को चेताया था तथा ग्रामीण एवं प्राकृतिक जीवन के निरंतर नाश से उत्पन्न होने वाले संकटों से सावधान किया था, परंतु विज्ञान एवं तकनीक जिस प्रकार जीव-सृष्टि के अस्तित्व के लिए संकट पैदा कर रही है, तब हमें गांधी की याद आती है और हम उनके विचारों में समाधान ढूँढ़ने लगते हैं लेकिन यह भी सत्य है कि गांधी के विचारों से कोई जागृति, कोई चिंतन तथा सभ्यता की दिशा मोड़ने की कोई कल्पना भी दिखाई नहीं देती और गांधी केवल बौद्धिक बहस के केन्द्र बनकर रह जाते हैं। गांधी का वैचारिक वाङ्मय बहुत व्यापक है और यह कहा जा सकता है कि जीवन का कोई ऐसा विषय नहीं है जिस पर गांधी ने विचार न किया हो और संभवत: यह भी एक कारण है कि विश्व की भाषाओं में जितने लेख तथा पुस्तकें गांधी पर लिखी गई हैं, उतनी किसी विश्व नायक पर न लिखी गई होंगी। इस सत्य के बावजूद यह भी सच है कि गांधी की पत्रकारिता और उनके पत्रकार के रूप में उनके अनुभवों को उनके देहावसान के बाद ही भुला दिया गया, जबकि लगभग चार दशकों तक उन्होंने पत्रकारिता की, अंग्रेज़ी-हिन्दी-गुजराती-तमिल-उर्दू आदि भाषाओं की पत्रकारिता की और अंग्रेज़ी भाषा के साथ भारतीय भाषाओं की पत्रकारिता को भी समान महत्त्व दिया और इस रूप में वे पहले राष्ट्रीय पत्रकार थे। गांधी स्वयं को शौकिया पत्रकार कहते थे, लेकिन वे वास्तविक अर्थ में राष्ट्रीय पत्रकार थे और अंग्रेज़ी पत्रकारिता से वे वैश्विक पत्रकार बन गए थे। अत: भारत में गांधी जैसा कोई शौकिया पत्रकार नहीं हुआ जिसने अपने राष्ट्र की धड़कनों और संघर्षों एवं सरोकारों को अपने समाचार-पत्रों का मूलाधार बनाकर राष्ट्रीय जागरण किया हो तथा अपनी राष्ट्रीय प्रतिबद्धताओं एवं चिंताओं के बावजूद विश्व की पत्रकारिता में अपने विचारों, कार्यों तथा आंदोलनों के पदचापों को अंकित किया हो। गांधी अपनी कर्मशीलता एवं विचारों के कारण राजनीति, धर्म, समाज, संस्कृति, अर्थ, आदि क्षेत्रों में महान् बने और पत्रकारिता के क्षेत्र में भी उनका योगदान एवं महत्ता अस्वीकार नहीं की जा सकती।

गांधी की पत्रकारिता का इतिहास 4 जून, 1903 से आरंभ होता है जब 'इंडियन ओपिनियन' का पहला अंक प्रकाशित हुआ और इस प्रवेशांक में गांधी का अग्रलेख 'अपनी बात' चार भाषाओं में छपा, लेकिन गांधी के इस दायित्व को ग्रहण करने तक की पृष्ठभूमि को समझना और जानना आवश्यक है। गांधी के इंग्लैंड बैरिस्टरी करने जाने तक कोई समाचार-पत्र नहीं पढ़ा था, जबकि इंग्लैंड जाने के विदाई समारोह में उनके वक्तव्य का अंश 'काठियावाड़ टाइम्स' के 12 जुलाई, 1888 के अंत में छपा था। गांधी इंग्लैंड पहुँचे तो दलपतराम शुक्ल के सुझाव पर उन्होंने लगभग एक घंटे तक 'डेली टेलीग्राफ', 'डेली न्यूज़' आदि अंग्रेज़ी समाचार-पत्र पढ़ना शुरू किया, 'वेजिटेरियन' समाचार-पत्र में लेख छपवाए और उसमें ही उनका विदाई भाषण तथा उनके लिया इंटरव्यू प्रकाशित हुआ। इस प्रकार गांधी 22 वर्ष की आयु तक अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों की दुनिया के अंग बन गए थे और वे जब वकालत करने एवं सेठ अब्दुल्ला का मुकदमा लड़ने के लिए दक्षिण अफ्रीका पहुँचे तो उनकी पगड़ी एवं 'अन्वेलकम विज़िटर' की समाचार-पत्रों में खूब चर्चा हुई। वे तीन-चार दिन में ही अनायास प्रसिद्ध हो गए। जब उन्होंने अदालत से वकालत करने का प्रमाण-पत्र लिया तो 'वकील सभा' के विरोध करने पर समाचार-पत्रों ने गांधी का साथ दिया और गांधी के समर्थन तथा वकीलों की निंदा के समाचार प्रकाशित किए। इस प्रकार फिर समाचार-पत्रों ने गांधी की प्रसिद्धि बढ़ाने तथा उनके समर्थन में वातावरण बनाने में योगदान किया। इसके बाद गांधी को दक्षिण अफ्रीका में लगभग बीस वर्ष तक रहने और प्रवासी

डॉ. कमल किशोर गोयनका, ए-98, अशोक विहार, फेज़ प्रथम, दिल्ली - 110052
मोबाइल : 09811052469 / 7982117567
ईमेल : kkgoyanka@gmail.com

भारतीयों के लिए संघर्ष करने का अवसर भी समाचार-पत्र की एक ख़बर से मिला। गांधी सेठ अब्दुल्ला का मुकदमा निपटाकर अंतिम रूप से भारत लौट रहे थे और उनका विदाई समारोह था कि गांधी ने एक अख़बार में 'इंडियन फ्रेंचाइज़' शीर्षक ख़बर देखी जिसमें हिंदुस्तानियों से मताधिकार छीनने का सुझाव छपा था। गांधी ने इसका अर्थ सेठ अब्दुल्ला को समझाया कि हिंदुस्तानियों की आज़ादी एवं स्वाभिमान को नष्ट करने की साज़िश की जा रही है। इस पर वह भोज-समारोह संघर्ष समिति में बदल गया। गांधी ने नेटाल में रहने का निर्णय किया, बिल के विरोध में प्रार्थना-पत्र धारा-सभा को भेजा, समाचार-पत्रों में ख़बर छपी। यद्यपि बिल पास हो गया, लेकिन गांधी ने बिल के विरोध में उपनिवेश मंत्री लॉर्ड रिपन को अर्ज़ी भेजी और भारत एवं इंग्लैंड के अख़बारों को भी भेजी और भारत के 'टाइम्स ऑफ इंडिया' तथा इंग्लैंड के 'टाइम्स' ने इस अर्ज़ी का समर्थन करते हुए इसे प्रकाशित किया। इस प्रकार गांधी पत्रकारिता के लिए एक विषय बनते चले गए। इसी प्रकार के दो प्रसंगों का उल्लेख भी ज़रूरी है। गांधी जनवरी, 1897 में दक्षिण अफ्रीका पहुँचे तो गोरों ने उनका बड़ा विरोध किया, उन पर कई आरोप लगाए और गोरों की भीड़ उन्हें फाँसी देने के लिए नारे लगाती रही, लेकिन गांधी ने गोरों के इस आक्रमण को दोष न मानते हुए उन पर मुकदमा करना अस्वीकार कर दिया। समाचार-पत्रों ने इस बार भी गांधी का साथ दिया, उन्हें निर्दोष माना और गांधी ने भी 13 अप्रैल, 1897 को 'नेटाल मक्र्युरी' को अपना स्पष्टीकरण भेजा और गांधी की प्रतिष्ठा बढ़ी। गांधी 1896 में जुलाई-दिसंबर तक भारत में रहे थे और उन्होंने कोलकाता, प्रयाग, राजकोट, पूना आदि स्थानों पर समाचार-पत्रों के संपादकों से मिले थे। 'पायोनियर' ने उनके पत्रों-लेखों को प्रकाशित करने का आश्वासन दिया, 'स्टेट्समैन' तथा 'इंग्लिशमैन' ने उनकी लंबी मुलाकातें छापी और इस प्रकार वे अंग्रेज़ी पत्रकारिता एवं संपादकों से अपने संबंध बनाने में सफल हुए। वे कई समाचार-पत्रों के नियमित पाठक थे, संपादकों को प्रकाशनार्थ पत्र लिखते थे और संपादकों से निजी संबंध बनाए रखते थे। गांधी ने समाचार-पत्रों के समुचित उपयोग की कला सीख ली थी। गांधी ने 27-28 वर्ष की आयु तक यह समझ लिया था कि वे समाचार-पत्रों से ही अपने विचारों का एवं कार्यों का विस्तार कर सकते हैं, प्रवासी भारतीयों में स्वाधीनता एवं स्वाभिमान की चेतना उत्पन्न कर सकते हैं तथा साम्राज्यवादी शासकों तक अपनी बात पहुँचा सकते हैं। संभवत: गांधी भारतीयों में अकेले थे जो अपने समकालीनों में समाचार-पत्र की जादुई शक्ति को सबसे अधिक पहचानते थे और उसका अपने उद्देश्यों के लिए उपयोग करते थे।

गांधी की पत्रकारिता का श्रीगणेश दक्षिण अफ्रीका के उनके प्रवास काल में हुआ। गांधी के महत्त्वपूर्ण कार्यों तथा विचारों का आरंभ प्राय: दक्षिण अफ्रीका से ही हुआ, इसी कारण इतिहासकार मानते हैं कि गांधी को महात्मा गांधी दक्षिण अफ्रीका ने ही बनाया। गांधी 34-35 वर्ष तक आते-आते अंग्रेजी पत्रकारिता की शक्ति समझ चुके थे और पत्रकारिता की रीति-नीति, विचार एवं उद्देश्यपरकता, प्रबंधन तथा मुद्रण एवं विवरण आदि जानने की प्रक्रिया में थे, लेकिन उसके आर्थिक पक्ष पर संभवत: उनकी गहरी दृष्टि नहीं थी, फिर भी वे भारत से प्रेस तथा उसके लिए एक व्यक्ति की व्यवस्था करना चाहते थे। वे इसमें असफल हुए तो उन्हें जब सन् 1903 में अवसर मिला तो उन्होंने पत्रकारिता में अपना कदम रखा और 4 जून, 1903 को 'इंडियन ओपिनियन' का पहला अंक प्रकाशित हुआ। इस कार्य में मदनजीत ने उनका सहयोग किया और अपनी प्रिंटिंग प्रेस से प्रकाशित किया। इस प्रवेशांक में तथा बाद के कई अंकों में गांधी ने अपने उद्देश्यों का स्पष्टीकरण किया। उन्होंने लिखा कि वे हिंदुस्तानियों के दु:खों एवं दोषों को दूर करने के साथ उन्हें शिक्षित तथा मज़बूत बनाना चाहता हूँ तथा 'साम्राज्य की सेवा' तथा 'साम्राज्य भावना का पोषण' करके उनकी न्यायवृद्धि को जाग्रत करना चाहता हूँ। इस नीति का यह लाभ हुआ कि अनेक अंग्रेज़ उनके सहायक बने, अंग्रेज़ी समाचार-पत्रों ने उनकी मदद की और योरप के अनेक बुद्धिजीवी उनके समर्थक बने। गांधी इस लड़ाई को अपने आत्म-बल से ही लड़ना चाहते थे, परंतु वे समाचार-पत्र की शक्ति को भी जान गए थे, अत: उन्होंने लिखा कि जिस लड़ाई का आधार आंतरिक बल हो तो वह अख़बार के बिना चलाई जा सकती है, किन्तु साथ ही मेरा अनुभव यह भी है कि 'इंडियन ओपिनियन' के होने से हमें कौम को आसानी से शिक्षा दे सकने और संसार में जहाँ-जहाँ हिंदुस्तानी रहते हैं, वहाँ-वहाँ हमारी हलचलों की ख़बरें भेजने में आसानी हुई जो दूसरी रीति से संभव नहीं। लड़ाई में 'इंडियन ओपिनियन' एक बड़ा उपयोगी और सबल साधन बना। गांधी ने माना कि पत्रकारिता में आत्म-बल के मिलने से उसकी प्रभाव शक्ति में वृद्धि होती है, क्योंकि उसका मूलाधार सेवा और समाज-हित है। समाचार-पत्र निजी नहीं समाज की संपत्ति है, अत: जनता की उसकी मालिक है और यदि संचालकों में स्वदेशभिमान है तो कर्मचारी निम्नतम वेतन पर भी काम करेंगे।

गांधी ने अपने जीवन में, सन् 1903 से 30 जनवरी, 1948 तक चार समाचार-पत्रों का प्रकाशन किया- 'इंडियन ओपिनियन', 'नवजीवन', 'यंग इंडिया', तथा 'हरिजन'। इसके अतिरिक्त 'बाम्बे क्रॉनिकल' तथा 'सत्याग्रही' का उल्लेख भी मिलता है, परंतु एक-दो अंकों के बाद ही ये समाचार पत्र बंद हो गए। इस प्रकार ये चार समाचार-पत्र गांधी की पत्रकारिता के मूलाधार हैं और उसकी प्रकृति एवं विचार-दर्शन को समझने के लिए पर्याप्त सामग्री उपलब्ध कराते हैं। 'इंडियन ओपिनियन' जून, 1903 से जुलाई 1914 तक गांधी के संपादकत्व में निकला और उसके बाद सन् 1958 तक मणिलाल गांधी और सुशीला गांधी के नेतृत्व में निकलता रहा। 'नवजीवन' और 'यंग इंडिया' सन् 1919 से जनवरी, 1932 तक और 'हरिजन' 11 फरवरी, 1933 से 30 जनवरी, 1948 तक गांधी के संपादकत्व में निकलता रहा लेकिन इन समाचार-पत्रों का इतिहास अनेक बाधाओं और विपत्तियों से भरा पड़ा है। 'इंडियन ओपिनियन' से 'हरिजन' तक कई बार प्रकाशन बंद हुआ, प्रेस और कार्यालय की तलाशी हुई, पुराने रिकार्ड नष्ट किए गए और प्रेस सेंसरशिप का शिकार होना पड़ा। गांधी कई बार जेल में रहे उनकी अनुपस्थिति में दूसरों ने संपादन का दायित्व उठाया और जुर्माना न जमा करने पर

समाचार-पत्र के प्रकाशन पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इतनी विकट अवरोधों तथा कठोर बाधाओं के होने पर भी गांधी का साहस, धैर्य तथा अभिव्यक्ति की व्याकुलता कभी कम नहीं हुई। सन् 1908 में कस्तूरबा बीमार पड़ीं तो वे जेल में थे और अपनी मुक्ति के लिए जुर्माना अदा करने को तैयार न थे और जब 'नवजीवन' पर प्रतिबंध लगा तो उसकी दस हज़ार प्रतियाँ साइक्लोस्टाइल मशीन से मुद्रित करके बाँटी गईं। गांधी में स्वराज्य, स्वतंत्रता, स्वाभिमान, राष्ट्रोत्धार तथा लोक जागरण की इतनी प्रबल प्रतिबद्धता थी कि जेल की सलाखें, अपनी एवं पत्नी की बीमारी तथा सरकारी दंडात्मक कार्यवाहियाँ उनकी पत्रकारिता की मशाल को बुझा न सकीं। आप सहमत होंगे कि पत्रकार के रूप में गांधी जैसी सरकारी सेंसरशिप से टक्कर तथा अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए सब कुछ समर्पित करने की क्षमता आपातकाल में केवल रामनाथ गोयनका में दिखाई देती है। मैं उस समय जेल में था और मैंने देखा कि बड़े-बड़े पत्रकार राग दरबारी के हिस्से बन गए थे। क्या यह स्वाधीन भारत में इमरजेंसी युग की उपलब्धि थी कि गांधी जैसी आत्मबली एवं आत्म बलिदानी वाली पत्रकारिता तानाशाही की गुलाम बन कर रह गई थी और दमन एवं दासता के विरुद्ध लेखनी निस्तेज हो गई थी? यह भारतीय पत्रकारिता का अंधकार युग था जबकि देश को गांधी की पत्रकारिता की लोकतंत्र की रक्षा के लिए आवश्यकता थी। यह और भी खेदजनक है कि भारतीय पत्रकारों ने संकट की इस घड़ी में गांधी की पत्रकारिता को याद तक नहीं किया।

गांधी ने अपनी पत्रकारिता के लगभग चार दशकों में पत्रकारिता का एक भारतीय मॉडल बना लिया था, बल्कि यह कहना उपयुक्त होगा कि दक्षिण अफ्रीका में उन्होंने अपनी पत्रकारिता के आधारभूत तत्वों का निर्धारण कर लिया था और जब उन्होंने भारत में अपनी पत्रकारिता शुरू की तो उन्होंने उन्हीं तत्वों तथा विशेषताओं का उपयोग किया और यदाकदा उनकी पुष्टि के साथ उनका विस्तार किया और दृढ़ता से उनका पालन किया। इनमें सर्वप्रमुख पत्रकारिता को देशभक्ति तथा राष्ट्रीयता का आधार देना था। उनके संपूर्ण जीवन के कार्यों तथा विचारों में भारत माता का पुत्र होने तथा उसके हित के लिए अपना सब कुछ अर्पित करने का संकल्प है। उनके चार समाचार-पत्रों में 'इंडियन', 'यंग इंडिया', 'नवजीवन' तथा 'हरिजन' सभी के केन्द्र में भारत की ग़ुलाम जनता तथा उसके उद्धार की प्रबल कामना है। गांधी ने लिखा है कि पत्रकारिता उनका लक्ष्य नहीं है, बल्कि वह भारतीय स्वराज्य संघर्ष में उसके पूरक के रूप में ही उसका उपयोग है। इंग्लैंड में बैरिस्टरी करते समय अपने भारतीय संस्कारों की रक्षा की, दक्षिण अफ्रीका में अदालत के आदेश पर भी अपनी भारतीय पगड़ी नहीं उतारी, 'नेटाल इंडिया कांग्रेस' की स्थापना की, 'इंडियन ओपिनियन' में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' तथा उसके नेताओं के समाचार छापते रहे और भारतीय पत्रकारों एवं समाचार पत्रों से संपर्क बनाया, दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों के स्वाभिमान एवं अधिकारों की लड़ाई लड़ी, 'हिंद स्वराज' पुस्तक में भारत को एक राष्ट्र माना और भारतीय संस्कृति को सर्वश्रेष्ठ रूप में स्थापित किया और भारत आने पर तो उनकी पत्रिकारिता की बुनियाद ही भारत की दासता से मुक्ति का संघर्ष था। गांधी ने अपनी पत्रकारिता में हिंदी, तमिल, उर्दू, गुजराती आदि भारतीय भाषाओं का महत्त्व देकर अपनी राष्ट्रीयता एवं देशाभिमान का परिचय दिया। पत्रकार के रूप में गांधी ने नए राष्ट्रीय समाचार-पत्रों का स्वागत किया, उन्हें अपने संदेश दिए, दूसरे समाचार-पत्रों को निकम्मा मानते हुए उनकी कटु आलोचना से भी पीछे नहीं रहे।

गांधी ने अंग्रेज़ी में पत्रकारिता की और अंग्रेज़ी में खूब लिखा भी, पर उन्हें इससे बहुत प्रसन्नता नहीं हुई। उन्होंने लिखा कि उनके लिए अंग्रेज़ी में अख़बार निकालना इसलिए ज़रूरी है कि वे मुट्ठी-भर अंग्रेज़ी भाषियों तक अपनी बात पहुँचाना चाहते हैं, लेकिन वे भारतीय जनता तक तो भारतीय भाषाओं से ही पहुँच सकते हैं। गांधी की इस भाषा-नीति ने उन्हें देश के अधिकांश भाषा-क्षेत्र तक पहुँचा दिया और इसके मूल में उनकी राष्ट्रीयता ही थी जो उन्हें देश के लोक जीवन का सर्वाधिक स्वीकृत राष्ट्रनायक बना रही थी। अपनी इसी राष्ट्रभक्ति तथा राष्ट्रीय हित के लिए वे बार-बार कहते हैं कि वे अपने देश के लिए जीते हैं और उसी के लिए मरेंगे। गांधी की यही राष्ट्र निष्ठा उनकी पत्रकारिता में फलती-फूलती दिखाई देगी। गांधी की पत्रकारिता का आधार भारत और भारतीयता है, और दक्षिण अफ्रीका तथा भारत में उनके स्वराज्य संघर्ष के आधर भी यही थे- सत्य, अहिंसा, सहयोग, स्वाधीनता, नैतिकता, शुद्धता, प्रामाणिकता, धन एवं यश से विमुखता और लोक जागरण एवं लोक शिक्षा तथा देशहित के लिए निजता का त्याग। गांधी की पत्रकारिता उनके राजनीतिक उद्देश्यों की पूरक थी, इस कारण भी दोनों के उद्देश्यों, लक्ष्यों, कार्यप्रणालियों और उनके मूल में प्रेरक विचारों का एक रूप होना स्वाभाविक था। गांधी स्वयं को 'शौकिया संपादक' कहते थे, किन्तु वे पूर्ण पत्रकार थे, स्वकर्मी और सर्वज्ञ थे। दक्षिण अफ्रीका में तो उन्होंने प्रेस की मशीन तक चलाई, पाठकों का हिसाब-किताब रखा, कर्मचारियों को काम बाँटा और वितरण तक पर ध्यान रखा।

गांधी ने लिखा कि वे हर सप्ताह समाचार-पत्र में अपनी आत्मा उड़ेलते हैं। वे आजीविका कमाना अपराध तथा सेवा भाव को सर्वोच्च कर्तव्य मानते थे। उनके विचारानुसार पत्रकार को देशसेवक होना चाहिए, कलम पर अंकुश होना चाहिए, सरकारी सेंसरशिप का विरोधी होना चाहिए तथा जुर्माना आदि आर्थिक दंड की अदायगी न करके जेल जाने तथा जान तक देने को तैयार रहना चाहिए। गांधी कहते हैं कि समाचार-पत्र एक ज़बरदस्त ताकत है और संपादक की निरंकुशता नाश्वान है और बाहरी निरंकुशता और भी अधिक विषैली है, अत: आत्मानुशासन तथा अंदर का अंकुश ही लाभदायक है। गांधी प्रेस की स्वतंत्रता के समर्थक थे और स्वराज्य के लिए भाषण, सभा-सम्मेलन तथा मुद्रण की स्वतंत्रता चाहते थे। गांधी ने तिलक की उक्ति को उद्धृत किया है कि स्वतंत्रता मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और उसे मैं लेकर रहूँगा। गांधी कई बार सेंसरशिप से दंडित हुए, जेल गए, प्रेस बंद हुई परंतु वे पत्रकारों से कहते रहे कि सरकार सब कुछ कर सकती है, लेकिन आपकी कलम नहीं छीन सकती और न वाणी और यदि वह छीन भी लें तो सरकार राष्ट्र का संकल्प नहीं दबा सकती। गांधी का यह संकल्प हमें तब दिखाई देता है जब वे

सेंसरशिप की अवज्ञा करके 'यंग इंडिया' और 'नवजीवन' को हस्तलिखित रूप से निकलवाते हैं और 'इंडिपेंडेंट', 'मदरलैंड' आदि समाचार-पत्रों का आपातकाल में हस्तलिखित समाचार-पत्र निकालने का समर्थन करते हैं और लिखते हैं कि हस्तलिखित समाचार-पत्र एक असाधारण समय के लिए असाधारण विरोचित उपाय है। गांधी तो सरकारी तथा संपादकीय दोनों की निरंकुशता के विरोधी हैं, लेकिन आज़ादी के लिए संपादक-पत्रकार द्वारा जान देने को गौरवमय सौभाग्य मानते हैं। गांधी पत्रकारिता को 'चौथा स्तंभ' मानते हैं और 'पत्रकार संघ' द्वारा पत्रकारों के लिए एक आचार-संहिता बनाने पर बल देते हैं। वे कहते हैं कि समाचार-पत्रों की स्वतंत्रता एक बहुमूल्य अधिकार है, लेकिन रोकथाम की कोई आंतरिक व्यवस्था होनी चाहिए। आज देश में हर भाषा के पत्रकार-संघ हैं लेकिन कोई आचार-संहिता ऐसी नहीं है जो शत प्रतिशत व्यवहार में आती हो।

गांधी समाचार-पत्र के संवाददाता और संवाद समितियों के दायित्व पर तथा उनके सत्यासत्य पर गंभीरता से विचार करते हैं। गांधी इंग्लैंड में युद्ध संवाददाता बन चुके थे और दक्षिण अफ्रीका में रायटर के एक झूठे समाचार के कारण गोरों की भीड़ द्वारा पीटे गए और कठिनाई से अपनी जान बचा सके। गांधी ने लिखा है कि पत्रकारिता में सब कुछ अच्छा नहीं है और उसकी नैतिकता एवं प्रतिबद्धता में असत्य, पक्षपात, दायित्वहीनता और अश्लीलता का विषैला चेहरा छिपा है और इस पवित्र कार्य को कलंकित करता है। गांधी इसी कारण झूठे समाचार, अफवाहों तथा गोपनीय एवं निजी पत्र-व्यवहार, भेंट, समझौता आदि का प्रकाशन घोर अनैतिक मानते हैं। वे खोजी पत्रकार के विरुद्ध हैं और जब किसी अखबार ने सुभाषचंद्र बोस तथा जिन्ना के साथ उनके निजी पत्र-व्यवहार को प्रकाशित कर दिया तो उनके लिए यह असहनीयता तथा अनैतिकता का प्रसंग था। गांधी इस निरंकुश एवं स्वच्छंद पत्रकारिता के विरोधी थे। गांधी इसे अयोग्य आचरण का अपराध कहते हैं और पत्रकारिता के लिए 'शुद्ध प्रामाणिकता का और सच्चे व्यवहार' की नीति को सर्वोपरि मानते हैं। इस विचार के कारण गांधी एक बार तानाशाह बनकर सभी समाचार-पत्रों को बंद करना चाहते हैं क्योंकि वे देश के शत्रु हैं, वे 'बाइबिल', 'कुरान' और 'गीता' नहीं है। अत: ऐसे समाचार-पत्रों का बहिष्कार करना चाहिए।

गांधी की पत्रकारिता में समाचार-पत्र का प्रबंधन और उसका अर्थतंत्र महत्त्वपूर्ण अंग है। हमारी पत्रकारिता इस संबंध में बहुत कम जानती है। गांधी के समय में समाचार-पत्र प्रकाशन उद्योग नहीं था और न मीडिया के शिक्षण आदि की कोई व्यवस्था थी। गांधी पत्रकारिता में आने तथा संपादकों को मित्र बनाने की कला जान चुके थे। समाचार-पत्र के प्रबंधन के दो मुख्य भाग हैं-एक समाचार-पत्र का प्रकाशन विवरण तंत्र तथा दूसरा उसका आर्थिक तंत्र जो उसके आर्थिक साधनों की व्यवस्था करता है। गांधी ने 'इंडियन ओपिनियन' के पहले अंक के प्रकाशन का अनुभव अपनी आत्मकथा में 'पहली रात' शीर्षक से लिखा है। समाचार-पत्र कैसे तैयार हुआ, छपा और वितरण के लिए रेलवे स्टेशन तक पहुँचा, उसकी बड़ी रोचक कहानी आपको उसमें मिलेगी। गांधी को संपादक के रूप में कई काम करने होते थे- समाचारों का चयन, समाचारों की कतरनें खरीदना, संवाद समितियों से संपर्क, मशीन और कर्मचारियों की व्यवस्था, कंपोज़िंग तथा प्रूफ रीडिंग की देखभाल, लेखकों से संपर्क, अनुवाद, आय-व्यय का लेखा-जोखा रखना, पाठकों के पत्रों के उत्तर, समाचार-पत्र का विवरण तथा पाठकों की संख्या बढ़ाना आदि लगभग सभी काम गांधी के द्वारा ही होते थे। समाचार-पत्र का संपादन, प्रकाशन, वितरण और हिसाब-किताब सब गांधी के हाथ में था और उनके प्रबंधन में उनका निर्णय अंतिम था। इस प्रबंधन में उसके आर्थिक पक्ष में कुछ ऐसी मौलिकाता एवं विशिष्टता थी कि स्वाधीन भारत में उसे अपनाने की हिम्मत किसी में नहीं थी। गांधी ने बैरिस्टरी करते समय हिसाब-किताब रखना और किफायत से रहना सीख लिया था और जिसे वे सारे जीवन करते रहे। गांधी को 'इंडियन ओपिनियन' के कार्यकाल में आर्थिक स्थिति कमज़ोर होती गई और उन्हें अपनी जेब से हज़ारों पौंड लगाने पड़े। यदि उन्हें टाटा से पच्चीस हज़ार रुपयों की मदद नहीं मिलती तो 'इंडियन ओपिनियन' बंद हो गया होगा। उन्हें दक्षिण अफ्रीका में पत्रकारिता के लिए कुल एक लाख बीस हज़ार रुपयों की मदद मिली थी। इस अनुभव से गांधी ने आर्थिक दृष्टि से स्वावलंबी होने की नीति बनाई, घाटे में होने पर समाचार-पत्र को बंद करने की सोची, ग्राहकों को मालिक बनाया और उन्हें नए-नए ग्राहक बनाने की ज़िम्मेदारी सौंपी, लेकिन अपनी नैतिकता, शुद्धता एवं समाज हित के लिए विज्ञापन का बहिष्कार करते रहे। गांधी का मत था कि विज्ञापन पश्चिमी पत्रकारिता की बुराई है जो मूल उद्देश्यों से भटकाती है और पाठकों को भ्रम में रखती है। विज्ञापन अभिशाप है और उससे मुक्ति अत्यंत आवश्यक है अन्यथा उन्हें नैतिक, विश्वसनीय और समाजोपयोगी बनाना होगा। गांधी की आर्थिक नीति में समाचार-पत्र से लाभ होने पर उसे सामाजिक कार्यों में लगाने का संकल्प था। गांधी ने 'नवजीवन' तथा 'यंग इंडिया' से पचास हज़ार का लाभ हुआ तो उसे ग़रीबों के उत्थान में लगाया गया और इसकी सूचना समाचार-पत्रों में प्रकाशित की। गांधी की अर्थनीति में व्यक्ति के आर्थिक हितों पर पूर्णत: अंकुश था तथा वे चाहते थे कि संपादक और मालिक पत्रकारिता को आजीविका का साधन न बनाएँ और कर्मचारी अवैतनिक या कम वेतन पर काम करें, लेकिन गांधी के अलावा किसी अन्य के द्वारा ऐसा करना असंभव ही था। गांधी ने भारत आकर अपनी आजीविका की कभी चिंता नहीं की। समाज ने उन्हें इतना धन दिया कि उन्हें राष्ट्रीय कार्यों में कभी धन का अभाव नहीं रहा और इसके साथ घनश्यामदास बिड़ला और जमना प्रसाद बजाज जैसे मारवाड़ी पूँजीपतियों का आर्थिक सहयोग भी उन्हें मिला हुआ था। गांधी का यह ऐसा आदर्श था जो केवल गांधी अथवा गांधी का कोई प्रतिरूप व्यक्ति ही कर सकता था।

गांधी की पत्रकारिता के इस विवेचन से यह कहा जा सकता है कि वे 'फ्रीलांस जर्नलिस्ट' नहीं थे, जैसा कि वे स्वयं को कहते थे, बल्कि वे राष्ट्रीय पत्रकार थे और थे सर्वज्ञ एवं सर्वकर्मी। गांधी संपादक थे, प्रबंधक थे, नीति नियामक थे, अर्थतंत्र एवं प्रकाशन के नियंत्रक थे और उनका कोई बॉस या अधिकारी नहीं था, लेकिन यह सब

ब्रिटिश दासता से मुक्ति और स्वराज्य संघर्ष के लिए था और भारत का कल्याण तथा भारतीयता की रक्षा मुख्य लक्ष्य था। गांधी समझ गए थे कि समाचार पत्रों में लोक जागरण एवं लोक चेतना में परिवर्तन तथा राष्ट्रीय अस्मिता को जाग्रता करने की अद्‌भुत शक्ति है और इसी कारण वे अपने कार्यों, विचारों, सिद्धांतों तथा प्रतिमानों को चार दशकों तक अपने चार समाचार-पत्रों के द्वारा देश-विदेश में प्रचारित-प्रसारित करते रहे और इसके लिए उन्होंने अंग्रेज़ी के साथ भारतीय भाषाओं का भरपूर उपयोग किया। गांधी जानते थे कि वे भारतीय भाषाओं में समाचार-पत्र निकालकर ही देश के सभी क्षेत्रों तक पहुँच सकते हैं। उनकी चिंताएँ राष्ट्रीय-सांस्कृतिक थीं और इसके लिए संपूर्ण भारत को एक साथ जाग्रत करना आवश्यक था। गांधी ने इस प्रकार अपना एक पत्रकारिता दर्शन निर्मित किया, उसे अभिनव एवं विशिष्ट रूप में पत्रकारिता का भारतीय मॉडल बनाया जिसमें राष्ट्र और समाज के हित में संपूर्णत: निजी लाभ एवं स्वामित्व का परित्याग है और सत्यता, नैतिकता एवं प्रमाणिकता के साथ लोक सेवा का संकल्प है। गांधी राजनीति की तरह पत्रकारिता में भी विशिष्ट एवं अकेले हैं और इसमें भी वे सर्वोत्तम परंपराओं की रचना करते हैं।

गांधी की पत्रकारिता-दर्शन भारतीय पत्रकारिता का आदर्श-दर्शन कहा जा सकता है जिसे आज की पत्रकारिता छोड़ चुकी है, लेकिन उनकी यह चिंता हमें सावधान करती है कि समाचार-पत्र दुरुस्त नहीं होंगे और अपने धर्म को नहीं पहचानेंगे तो आज़ादी किस काम की होगी? आज पत्रकारिता की जो दुर्दशा है उसमें गांधी की इस चिंता-चेतावनी की सार्थकता अवश्य है कि नई नस्ल के पत्रकार और मालिक पत्रकारिता की पतनशीलता पर सोचें और गांधी से कुछ सीखें। गांधी का यह पत्रकारिता मॉडल उन्हें भारतीय प्रतिमानों की आत्मा से परिचित कराता रहेगा और उसकी प्रतिष्ठा पुन: स्थापित की जा सकेगी। गांधी ने एक बार कहा था कि मैं मरने के बाद भी शांत नहीं रहूँगा। विश्वास है, आने वाली पीढ़ियाँ इस सत्य का अनुभव करेंगी।

000

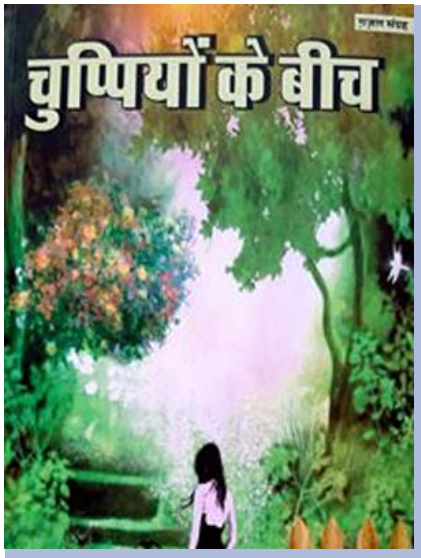

पुस्तक समीक्षा

चुप्पियों के बीच

समीक्षक : नीरज नीर
लेखक : डॉ. भावना कुमारी
प्रकाशक : किताबगंज प्रकाशन

डॉ. भावना कुमारी का हालिया प्रकाशित ग़ज़ल संग्रह है ''चुप्पियों के बीच''। यह गजल संग्रह वर्तमान की हिन्दी ग़ज़लों के मिज़ाज के अनुरूप है। हिन्दी ग़ज़लें सामान्य रूप से उर्दू बहरों के अनुसार ही लिखी जा रही है। भावना कुमारी के इस ग़ज़ल संग्रह में सम्मिलित ग़ज़लें, ग़ज़लों के व्याकरण के मापदंड पर भी खरी उतरती हैं। भावना कुमारी समाज की नब्ज़ पकड़ती है एवं हवा हवाई बातों के बदले ठोस धरातल पर अपनी बातों की बुनियाद रखती हैं। उनके शेरों में कुछ कड़वे मगर ज़रूरी प्रश्न उभरते हैं, जो जनसामान्य के भी प्रश्न हैं और यही उनकी ग़ज़लों के जनसरोकार को स्थापित करते हैं।

कुछ अशआर देखें :

'नदियाँ सूखी, पर्वत समतल, क्या बोलूँ?
मैं हूँ या फिर सब हैं पागल क्या बोलूँ?
अफ़सरशाही, सत्ताधारी सब डूबे,
घूस बनी है ऐसी दलदल क्या बोलूँ?

ग़ज़लों के बारें में कहा जाता है कि ग़ज़लें लिखी नहीं जाती बल्कि कही जाती हैं और जब कोई बात कही जाती है तो उसका ध्वन्यात्मक प्रभाव सुनने वाले के मन पर पड़ता है। इसलिए ग़ज़लों के बारें में यह ज़रूरी है कि जब पाठक इन्हें पढ़े तो वही प्रभाव उसके मनो मस्तिष्क पर पड़ना चाहिए। इस संग्रह की ग़ज़लें इस लिहाज से अपना काम बड़े ही सलीके से करती है। भावना कुमारी की ग़ज़लें संश्लिष्ट जीवनानुभवों की धारदार अभिव्यक्ति हैं। समाज एवं राजनीति की गहरी समझ से लबरेज़ उनके अशआर बड़ी ही सूक्ष्मता एवं चतुराई से वर्तमान के नंगेपन को उजागर कर देते हैं। हाशिए पर रह गए समाज की अकूत क्षमता, उनकी संभावनाओं को दर्शाती हुई उनकी ग़ज़लें उनकी हौसला अफ़ज़ाई भी करती हैं। सकारात्मकता से उमगती उनकी ग़ज़लों में परिवर्तन के लिए आह्वान तो है पर छद्म किताबी क्रांति का कोई भ्रम नहीं है। भावना कुमारी की ग़ज़लों के माधुर्य में एक कसक एवं सम्मोहन है। वे बड़ी बात भी सरलता से कह देती है। हिन्दी ग़ज़लों की यह खास विशेषता रही है कि वे अतिबौद्धिकता वाद की शिकार नहीं रही है और इनकी ग़ज़लें भी इसका अपवाद नहीं है। वे अपनी बात बोधगम्य पर असरदार तरीके से करती हैं। भावना की ग़ज़लें आज के यथार्थ को ज्यों का त्यों पाठकों के सामने रखती है एवं भला बुरा का निर्णय उन्हें ही करने देती है। इनकी ग़ज़लें कहीं भी उपदेशात्मक नहीं होती और न ही कहीं अपने विचार थोपती प्रतीत होती है। अच्छी ग़ज़लों की एक विशेषता यह भी होती है कि वे खराब ग़ज़लों को रेखांकित भी करती है। भावना कुमारी की ग़ज़लें यह काम बड़े ही सलीके से करती हैं।

000

नीरज नीर, राँची
मोबाइल : 8789263238

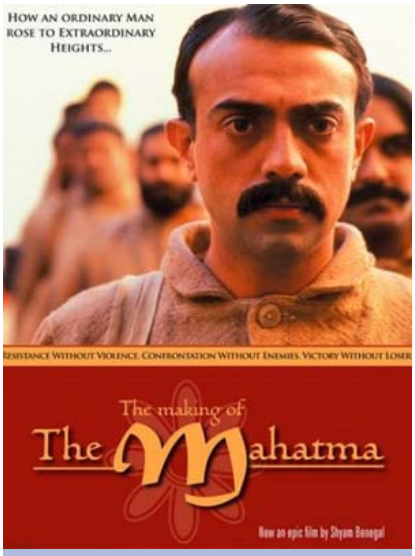

फ़िल्म समीक्षा

मेकिंग आफ महात्मा

समीक्षक : वीरेन्द्र जैन
निर्देशक : श्याम बेनेगल

वीरेन्द्र जैन, 2/1 शालीमार स्टर्लिंग, रायसेन रोड, अप्सरा टाकीज के पास भोपाल म.प्र. 462023, मोबाइल : 09425674629

2 अक्टूबर 1869 को जन्में गांधीजी का यह 150वाँ जन्मवर्ष है। हमारे वर्तमान प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 2014 में पद ग्रहण करते ही अपने पहले-पहले उद्बोधनों में ही इस अवसर का उल्लेख किया था। यद्यपि 2019 के आम चुनावों के दौरान कुछ उम्मीदवारों ने गांधीजी का उल्लेख उनकी महानता के अनुरूप न करके उनके हत्यारे का महिमा मंडन करने की कोशिश की, जिसे उनके दल समेत पूरे देश ने एक स्वर से विरोध किया।

मध्यप्रदेश सरकार के संस्कृति संचालनालय ने इस अवसर पर गांधी जी के जीवन पर बनी कुछ फिल्मों के प्रदर्शन का आयोजन किया जिनमें उनके 125वें जन्मवर्ष के दौरान बनाई गई श्याम बेनेगल की फिल्म 'मेकिंग आफ महात्मा' भी थी। विषय की दृष्टि से यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण फिल्म थी क्योंकि गांधीजी के अफ्रीका से भारत लौटने के बाद उनके स्वतंत्रता आन्दोलन के बारे में तो बहुत लिखा-पढ़ा गया है किंतु उनकी इस भूमिका में आने के लिए कौन सी परिस्थितियाँ ज़िम्मेवार थीं और वे किस किस तरह से संघर्ष करते हुए इस स्थिति तक पहुँचे उसकी कथा कम ही लोगों को ज्ञात है। यह फिल्म उस कमी को पूरी करती है। आम तौर पर हमें जब महान् लोगों के बारे में बताया जाता है तो अवतारवाद पर भरोसा करने वाला हमारा समाज उन महापुरुषों को जन्मना महान् (बोर्न ग्रेट) मान कर चलता है। सच यह है कि किसी भी व्यक्ति के निर्माण में उसका परिवेश, परिस्तिथियाँ और उनके साथ उसकी मुठभेड़ ज़िम्मेवार होती है। इसे वह समय भी निर्धारित करता है जिस समय में वे घटनाएँ सामने आती हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण के फिल्म निर्देशक श्याम बेनेगल ने 'मेकिंग आफ महात्मा' बना कर बोर्न ग्रेट की धारणा को तोड़ने की कोशिश की है। गांधी जी के निर्माण की कथा महात्मा बुद्ध की उस कथा से मिलती जुलती है जिसमें सुख सुविधाओं में पले राजपुत्र सिद्धार्थ ने किसी वृद्ध, बीमार, और मृतक को देख कर इनके हल खोजने की कोशिश की थी, और उस कोशिश में महात्मा बुद्ध बन गए थे।

गांधीजी के ऐसे बहुत अच्छे वकील होने के प्रमाण नहीं मिलते हैं जो अपनी तर्क क्षमता से अपने मुवक्किल के पक्ष में काले को सफेद सिद्ध कर देता है, अपितु लन्दन से बैरिस्टिर की डिग्री लेकर लौटने के बाद भी भारत में उनकी प्रैक्टिस अच्छी नहीं चल रही थी। किसी की सिफारिश पर उन्हें दक्षिण अफ्रीका में परिवार के अन्दर ही लेनदेन के एक मुकदमे को लड़ने के लिए बुलवाया गया था। उस मामले में भी उन्होंने एक अच्छे वकील होने की जगह एक सद्भावी पंच की भूमिका निभाते हुए दोनों के बीच समझौता कराने का प्रयास किया। यह आम वकीलों के व्यवहार से अलग था क्योंकि अधिक फीस हस्तगत करने के लिए वकील मुकदमे को चलाते रहना चाहते हैं। समझौते का उनका प्रयास सफल रहा था व इसी सद्भाव से प्रभावित होकर उनके मुस्लिम मुवक्किल के प्रतिद्वंदी ने भारत आदि देशों से श्रमिक के रूप में आए लोगों के साथ अंग्रेज़ शासकों के व्यवहार के बारे में बताया। खुद

भी भेदभाव का शिकार हो चुके गांधी जी को इससे स्थितियों को और समझने में मदद मिली, जिसके लिए उन्होंने एशिया के लोगों को संगठित किया और अपने ज्ञान व सद्भावी व्यक्ति की छवि के विश्वास पर विरोध का नेतृत्व किया। इस काम में उनके सम्पन्न मुवक्किलों ने भी मदद की।

उनकी समझ थी कि व्यक्ति दोषी नहीं होता है अपितु परिस्तिथियाँ दोषी होती है व मनुष्य परिस्तिथियों का दास होता है। यह समझ उन्हें कुरान, बाइबिल, गीता और टालस्टाय की पुस्तक पढ़ कर प्राप्त हुई थी। कहा जा सकता है कि उनके निर्माण में पुस्तकों के साथ-साथ उस धर्म निरपेक्ष भावना की भूमिका थी जिसके अनुसार वे किसी भी धर्म और उसके ग्रंथों से नफ़रत नहीं करते थे। यही कारण रहा कि उन्होंने मानवता का पाठ उन्हीं धर्मग्रंथों से सीखा जिन्हें बिना पढ़े या ग़लत ढंग से पढ़ कर लोग दंगे करते हैं और हज़ारों लोगों की हत्याएँ कर देते हैं। जब भी कोई कुछ नया देखता है तो उससे सम्बन्धित अपने परम्परागत प्रतीकों से तुलना करके अपने विचार बनाता है। गांधीजी की सोच और विचारों को अफ्रीका के संघर्ष ने काफी बदला। वहीं पर उन्होंने कमज़ोरों के संघर्ष के दौरान अहिंसा की भूमिका को समझा और उसका प्रयोग किया। अफ्रीका में ही उन्होंने आन्दोलनों के दौरान सत्याग्रह का प्रयोग किया।

गांधीजी ने शासकों का विरोध करते हुए भी युद्ध के समय उनका साथ दिया व रैडक्रास में काम करके घायलों की सेवा की। उन्हें इस बात से ठेस पहुँची कि ईसाइयत का पाठ पढ़ी नर्सें भी काले लोगों की मरहमपट्टी नहीं करतीं। उन्होंने खुद यह काम किया और लोगों को प्रभावित किया। उनसे प्रभावित होकर किसी ने उन्हें अपनी ज़मीन दान कर दी तो उसमें उन्होंने फार्म बनाकर खेती प्रारम्भ कर दी और उसका नाम टालस्टाय फार्म रखा। जब उन्होंने मज़दूरों की हड़ताल का नेतृत्व किया तो मज़दूरों को फार्म पर काम दिया ताकि वे भूखे न मरें और उनका संघर्ष ज़िन्दा रहे। यही समय था जब गांधीजी को सादगी और स्वावलम्बन का महत्त्व समझ में आया। उनका सूट-बूट और टाई छूट गई। भारत लौटने पर उन्होंने इसी तर्ज पर आश्रम बनाए थे। वे जो कहते थे उसे खुद करके दिखाते थे इसी क्रम में उन्होंने अपनी पत्नी को भी आन्दोलन में भाग लेने व जेल जाने के लिए सहमत कर लिया तब उन महिलाओं को उतारा जिन के पति आन्दोलन के कारण जेल में थे। समय पर दाई के न आने पर उन्होंने अपनी पत्नी की डिलेवरी भी खुद कराई।

गांधीजी ओजस्वी वक्ता नहीं थे किंतु बहुत सरलता से अपनी बात रखते थे जिससे उनकी बातों में सच्चाई झलकती थी। विचार सम्प्रेषित करने की कला में माहिर थे और अपने आचरण से वे सन्देश देते थे, इसके साथ साथ उन्होंने वहाँ इंडियन ओपीनियन नामक अखबार निकाला जिससे उनके विचारों का प्रसार हुआ। उनके विचारों से प्रभावित लोगों ने उन्हें सहयोग दिया। यही काम उन्होंने भारत लौट कर भी किया और भारत में यंग इंडियन व हरिजन नामक अखबार निकाले। उनके विचारों से प्रभावित होकर बड़े अख़बार के सम्पादकों ने उनके आन्दोलन पर लेख लिखे और उनकी आवाज ब्रिटिश हुकूमत तक पहुँची, जिससे उन्हें संवाद सम्प्रेषण में प्रेस का महत्त्व समझ में आया। उनके आश्रमों में लगातार विदेशी अख़बारों के संवाददाता मेहमान बनते रहे।

गांधीजी कुल इक्कीस साल साउथ अफ्रीका में रहे और जो मोहनदास करमचन्द बैरिस्टर होकर गए थे वे महात्मा गांधी बन कर भारत लौटे। इक्कीस साल की इस कहानी को सवा दो घंटे की फिल्म में बाँध कर श्याम बेनेगल जैसे फिल्मकार ही दिखा सकते थे, जो 25 वर्ष पूर्व उन्होंने सफलता पूर्वक कर के दिखाया था। किसी बायोपिक में सम्बन्धित व्यक्ति के रंग रूप लम्बाई देहयष्टि के अनुरूप कलाकार चाहिए होते हैं, जिसे फिल्मी दुनिया के ही रजत कपूर और पल्लवी जोशी जैसे सुपरिचित कलाकारों ने सफलतापूर्वक निर्वहन करके दिखा दिया था। यही कारण रहा कि इस फिल्म के लिए 1996 में बैस्ट फीचर फिल्म का अवार्ड मिला और रजत कपूर को बेस्ट एक्टर का अवार्ड मिला था।

व्यक्तित्व निर्माण की ऐसी सजीव कथाओं को बार-बार देखा-दिखाया जाना चाहिए।

000

फार्म IV

समाचार पत्रों के अधिनियम 1956 की धारा 19-डी के अंतर्गत स्वामित्व व अन्य विवरण (देखें नियम 8)।

पत्रिका का नाम : शिवना साहित्यिकी

1. प्रकाशन का स्थान : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

2. प्रकाशन की अवधि : त्रैमासिक

3. मुद्रक का नाम : जुबैर शेख़।

पता : शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स, ज़ोन 1, एमपी नगर, भोपाल, मप्र 462011

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. प्रकाशक का नाम : पंकज कुमार पुरोहित।

पता : पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मप्र, 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

5. संपादक का नाम : पंकज सुबीर।

पता : रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

4. **उन व्यक्तियों के नाम / पते जो समाचार पत्र / पत्रिका के स्वामित्व में हैं। स्वामी का नाम :** पंकज कुमार पुरोहित। **पता :** रघुवर विला, सेंट एन्स स्कूल के सामने, चाणक्यपुरी, सीहोर, मप्र 466001

क्या भारत के नागरिक हैं : हाँ।

(यदि विदेशी नागरिक हैं तो अपने देश का नाम लिखें) : लागू नहीं।

मैं, पंकज कुमार पुरोहित, घोषणा करता हूँ कि यहाँ दिए गए तथ्य मेरी संपूर्ण जानकारी और विश्वास के मुताबिक सत्य हैं।

दिनांक 20 मार्च 2019

हस्ताक्षर पंकज कुमार पुरोहित

(प्रकाशक के हस्ताक्षर)

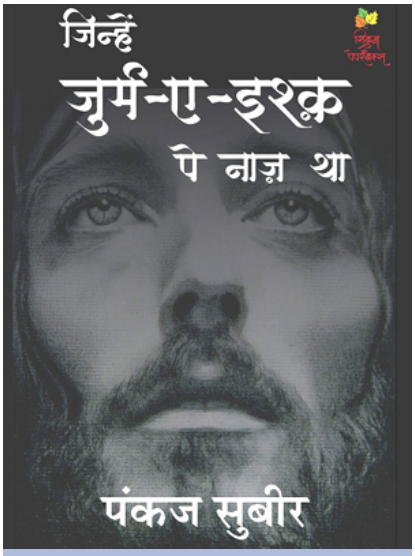

केंद्र में पुस्तक
जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था

समीक्षक :
पंकज पराशर, मनीषा कुलश्रेष्ठ, शुभम तिवारी, ब्रजेश राजपूत, कविता वर्मा, दिनेश पाल
लेखक : पंकज सुबीर

पंकज पराशर
(वरिष्ठ आलोचक)

हिंदी में फिलहाल जो माहौल है उसमें जो लेखक हिंदी भाषा-साहित्य की परंपरा, व्याकरण, मुहावरे और भाषिक प्रकृति तक पर अधिकार नहीं रखता, वह कुशल प्रबंधन और 'माहौल' बनाने की कला के कारण पत्र-पत्रिकाओं के पृष्ठों से लेकर आलोचकों की सृजन-परिक्रमा तक में मुसलसल मौज़ूद होता है। यह अकारण नहीं है कि इस तुमुल कोलाहल में अनेक बार बेहतरीन रचनाएँ अचर्चित और अलक्षित रह जाती हैं! कुछ लेखकप्रिय आलोचक अपने मुखारविंद से जब भी कुछ उवाचते हैं, तो अपनी पसंद के महज दो-चार रचनाकारों तक सीमित रहकर 'विषय-कीर्तन' कर लेते हैं! इसलिए अनेक क्षमतावान आलोचक आज 'देखत तव रचना विचित्र अति, समुझि मनहिं मन रहिए' की स्थिति में हैं। 'नई कहानी' के दौर में कुछ लेखकों ने जिस तरह आलोचना में भी हाथ आजमाया और एक-दूसरे की पीठ खुजाई थी, उसी तर्ज़ पर पिछले कुछ सालों में कुछ लेखकप्रिय समीक्षकों और अधिकाँश लेखकों ने 'उष्ट्राणाँ विवाहेषु, गीतं गायन्ति गर्दभाः' से अद्भुत समां बाँध दिया है!

ऐसे माहौल में यह देखकर सुखद आश्चर्य हुआ कि मध्य प्रदेश के सीहोर-जैसी छोटी जगह में रहकर एक ऐसा कथाकार भी है, जो निरंतर लिख रहा है और अपनी हर रचना में अपनी ही भाषा, शैली और शिल्प की हदों को तोड़ कर कुछ नया और अनूठा रच रहा है. फ़ैज़ अहमद फ़ैज की एक ग़ज़ल का शेर है, 'न रहा जुनून-ए-रुख़-ए-वफ़ा ये रसन ये दार करोगे क्या/जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था वो गुनाहगार चले गए।' पंकज सुबीर ने अपने उपन्यास के शीर्षक के लिए फ़ैज़ साहब के इस शेर को चुना है, 'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था'। इस उपन्यास को पढ़ते हुए बारहा 'कितने पाकिस्तान', 'आख़िरी कलाम', 'तमस' और उर्दू के कथाकार इंतज़ार हुसैन के उपन्यास 'बस्ती' की याद आती रही। हमारे समय के लेखक और शास्ता जिन-जिन सवालों से टकराने से बचते हैं और 'पोलिटिकली इनकरेक्ट' होने की आशंका से कतरा कर निकल जाते हैं, उन तमाम सवालों से पंकज सुबीर इस उपन्यास में जूझते हैं। अपने अकाट्य तर्कों से पाठकों को कायल करते हैं! सांप्रदायिकता की थीम पर लिखते समय हिंदी के लेखक जिस 'ट्रैप' में प्रायः फँस जाते हैं, जिस चीज़ को डील करते समय वे 'स्टीरियोटाइप्ड' हो जाते हैं, उसे सुबीर अपनी कलात्मकता से बहुत बेहतरीन ढंग से 'डील' करते हैं। इतना गहन शोध और उससे प्राप्त तथ्यों की बेहतरीन संवेदनात्मक बुनावट के तो ख़ैर क्या कहने! जिन बातों को कहने के लिए कमलेश्वर को अदीब-ए-आलिया की अदालत लगानी पड़ी, दूधनाथ सिंह को तत्सत पाण्डेय जैसे सनकी पात्र को रखना पड़ा (फिर भी असफल रहे), उससे आगे की बातें कहने के लिए सुबीर ने सिर्फ सहजता और सरलता की संघनित क़िस्सागोई को चुना! संक्षिप्त और तुरंता टिप्पणी के अख़ीर में बस इतना और कहूँगा कि इस टिप्पणी में मैंने जिन उपन्यासों ('कितने पाकिस्तान', 'आख़िरी कलाम', 'तमस' और 'बस्ती') का ज़िक्र किया है, 'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था' उससे कहीं आगे का उपन्यास है!

मनीषा कुलश्रेष्ठ
(प्रतिष्ठित कथाकार, उपन्याकार)

आज के समय में 'जिन्हें जुर्म-ए- इश्क़ पर नाज़ था' उपन्यास का पाठ ज़रूरी है, यही ज़िम्मेदारी समझ कर पंकज ने कलम उठाई होगी। एक शायर दिल लेखक क्यों विवश हुआ रामेश्वर और शाहनवाज़ के बहाने सुग्राह्य शब्दों में सांप्रदायिक वैमनस्य के जनक धर्मों का विश्लेषण करने हेतु?

आज की ज़रूरत, आज भारत जो भले चंद्रयान भेज रहा हो, विकास में पश्चिम की नकल कर रहा हो मगर सौहार्द और वैचारिक खुलेपन और बौद्धिकता में दशक साठ और सत्तर से भी पिछड़ गया सा दिखता है। धर्म जो हमारी आंतरिक विवशताओं का संबल भर बनते, आस्था के दीपकों की निजी ताखें और कोने बनते, वही मानों हमारे जीवन को संचालित करने लगे हैं। मनुष्य के अस्तित्व की चिंता में यह उपन्यास इसी धर्म की जड़ें टटोलता हुआ आरंभ होता है। देश-काल कहीं पीछे छूटते हैं। पैगंबर और उनके नियोक्ता, इतिहास और धर्मावलंबी, किसी धर्म को न मानने वाले दीवाने दार्शनिकों जिन्हें उनके अनुयायियों ने ईश्वर बना कर नया धर्म पैदा कर दिया आदि से होते हुए क़स्बे में सांप्रदायिक तनाव के बहाने आम भारतीय हिंदु और मुसलमान युवकों की मानसिक बुनावट प्रस्तुत करता है यह उपन्यास। कथ्य अपार है तो संक्षिप्त भी। संक्षिप्त यूँ कि यह सांप्रदायिक तनाव, प्रशासन की काहिली के बीच योजक बने हुए सुलझे हुए अध्यापक रामेश्वर के नायकत्व की कहानी है। रामेश्वर और शाहनवाज़ के बीच का संवाद उपन्यास की रीढ़ है। शाहनवाज़ जैसा असमंजस में डूबा युवक आज भारतीय युवक का प्रतिनिधित्व करता है जिसे एक रामेश्वर के समझाए जाने की आवश्यकता है।

इस उपन्यास में चूँकि कथ्य अपार भी है तो उसे साधने के लिए जादुई यथार्थ करवट लेता है और रामेश्वर से गांधी के हत्यारे गोडसे की टेलीफ़ोनिक बहस उठती है, फिर से गांधी और जिन्ना के बहाने भारतीय सांप्रदायिकता की जड़ में पड़े मट्ठे के तथ्य टटोले जाते हैं। वरुण कुमार, विकास, भारत यादव जैसे चरित्रों की आमद होती है और उपन्यास आगे बढ़ता है। इन लोगों के अँधियारे मनों में एक उजास की लालटेन जगाता रामेश्वर हम सब के मन में रहती एक विशफुल थिंकिंग है। ऐसी विशफुल थिंकिंग जिसका होना बहुत ज़रूरी है, वरना हम और अंधी और हिंसक प्रवृत्तियों के अधीन होते चले जाएँगे। पंकज उन सवालों पर सहज ही बात करते हैं अपने पात्रों के माध्यम से जिनसे हर कोई बचता प्रतीत होता है, पात्र अपने असमंजस से भी नई बात कहते हुए नया वातायन खोलते प्रतीत होते हैं। कई जगह वे दोनों ओर से तर्क देते प्रतीत होते हैं कि सुधि पाठक अपनी अक्ल इस्तेमाल कर अपना पक्ष खोज ले। मैं तो कहती ही हूँ कि उपन्यास दिशा या समाधान नहीं देते। बस समय की रफ़्तार में गिर गए दिशा सूचक बोर्ड को सीधा कर के लगा देते हैं कि अमन का रास्ता उधर से होकर है।

रामेश्वर वही काम करता है, शाहनवाज़ मानों गिरा हुआ दिशासूचक बोर्ड है। वह उसे खड़ा करता है, गढ़ता है, विचारधाराओं से परे नितांत मानव होकर जीने की दिशा दिखाता है। इस उपन्यास में असंख्य कोटेबल कोट्स हैं। पंकज रामेश्वर में उतर जाते हैं और इस किसी अजगर के गुंजलक जैसे वर्तमान की कुंडलियाँ खोल मनुष्यता को मुक्त करने का प्रयास करते हैं। अंत में शाहनवाज़ का भरोसा कि रामेश्वर ही उसकी प्रसव पीड़ा से बेहाल पत्नी के लिए इस हिंसक माहौल में राह निकालेंगे इस किताब को मुकम्मल अंत देता है। और धर्मों की कट्टरताओं को लचीला करती मनुष्यता के दीवाने 'इंसानियत से इश्क़ का जुर्म' करने वालों की नई खेप तैयार होती है। माना यह उपन्यास बहुत विवरणात्मक है, कथात्मकता और हो सकती थी। मगर ये दार्शनिक विवरण पाठक को अच्छे लगेंगे। क्योंकि ये पाठक के भीतर कुछ ठोस होते संवेदनों को कोमल करते चलते हैं। पंकज सुबीर को बधाई इस ज़हीन जुर्म के लिए।

शुभम तिवारी
(कार्यक्रम समन्वयक, आकाशवाणी)

पंकज सुबीर का नया उपन्यास 'जिन्हें जुर्म-ए- इश्क़ पर नाज़ था' इस समय के सबसे संजीदा और विषादपूर्ण विषय की उन बातों पर प्रकाश डालने का कार्य करता है, जिन बातों को आमजन या दंगों से अप्रभावित व्यक्ति आम समझ के साथ नहीं समझ सकता। इस उपन्यास की शुरूआत में ही विश्व के प्रमुख धर्मों की शिक्षाओं का उल्लेख कर और एक-एक धर्म के पूरे इतिहास को बता कर आगे के लिए एक स्पष्ट पृष्ठभूमि पहले ही तैयार कर दी जाती है। उपन्यास के इस भाग में लेखक की अटूट मेहनत दिखाई पड़ती है क्योंकि यहाँ न केवल तथ्यात्मक रूप से सही होने की चुनौती होती है बल्कि घटनाओं को इतिहास के उचित क्रम से भी बताना एक दुष्कर कार्य है।

अगले चरण में कथानक के माध्यम से लेखक दंगों की विभीषिका को समझाने का पूरा प्रयास करते हैं तथा उन बातों और उन माध्यमों का विशेष रूप से उल्लेख करते हैं जिनका प्रथम दृष्टया इन दंगों से कोई सरोकार मालूम नहीं पड़ता, पर असल में ये ही तत्व दंगों के विशेष कारण बनते हैं और वो भी उनके कुछ सामान्य भौतिक साधनों की चाह और लालच की पूर्ति हेतु । अंततः लेखक अपने पाठकों को अपनी शैली, कथानक और तर्कों से अपने उस कथन को मानने पर मजबूर कर देता है जहाँ वह ये कहता है कि कोई भी दंगा कभी भी सांप्रदायिक कारणों से नहीं होता।

इस उपन्यास में लेखक ने कई भारतीय राजनीतिक भ्रांतियों को भी निष्पक्ष रुप से दूर करने का पूरा प्रयास किया है और कई ऐतिहासिक जानकारियाँ अतीत के गर्त से खोज निकालकर सामने रखी हैं जो समझ को और स्पष्टता प्रदान करती है।

ब्रजेश राजपूत
(वरिष्ठ पत्रकार, लेखक)

ये हमेशा मुश्किल होता है एक सफलता के बाद दूसरी और फिर तीसरी की तलाश करना। इसको ऐसे कहें कि अपने पहले टेस्ट में शतक बनाने वाले क्रिकेट खिलाड़ी बहुत हैं कुछ दूसरे में भी बनाने वाले मिल जाएँगे मगर लगातार अपनी ज़िंदगी के तीसरे टेस्ट में शतक बनाने वाले तो हमारे कप्तान मोहम्मद अज़हरुद्दीन ही हुए हैं। तभी सब को आज तक याद हैं। अपने रिटायरमेंट के बाद आज अज़हरुद्दीन इसलिए याद आ रहे हैं कि टेबल पर रखी किताब 'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था' पढ़कर अभी हाल ही में खत्म की है और सोच रहा हूँ कि लेखक पंकज सुबीर की तुलना अज़हरुद्दीन से करूँ या नहीं।

भोपाल के पास सिहोर में लंबे समय से चिमटा गाड़कर लगातार लिख रहे पंकज सुबीर किसी परमाणु बिजली घर से कम नहीं हैं, जो अपनी चकाचौंध से अपने क़स्बे सीहोर और अपने साथियों को रोशनी देते रहते हैं।

यूँ पंकज का पहला उपन्यास 'ये वो सहर तो नहीं' 2009 में आया था और सीहोर की सच्ची घटना पर ही आधारित था। जिसमें सीहोर के इतिहास और आज के हालात को बेहतरीन तरीके से बुना गया था। सीहोर में कलेक्टर का बंगला और नबावकालीन अंग्रेज़ों के रेज़ीडेंट का निवास एक ही था और पूरा उपन्यास कभी अंग्रेज़ कालीन रेज़ीडेंट की ज़्यादतियाँ दिखाता तो कभी आज के ज़माने के काले अंग्रेज़ों या प्रशासनिक अफ़सरों के कामकाज करने के तरीकों और उससे होने वाली जनता की परेशानियों को सामने लाता। पाकिस्तानी शायर फ़ैज़ की प्रसिद्ध नज़्म से शीर्षक लेकर लिखा ये उपन्यास 'ये वो सहर तो नहीं' उपन्यास पढ़ते हुए 'रंग दे बसंती' फिल्म का अहसास देता था। जिसमें परतों में दो कहानियाँ एक साथ बह रही होती हैं।

मेरी मुलाकात के वक्त तक पंकज ये उपन्यास लिख चुके थे और उन दिनों पंकज पत्रकारिता में भी सक्रिय थे। ख़बरों की ऑनलाइन एजेंसी भी चलाते थे और मुझे सीहोर की रोचक कहानियाँ बताते थे। इसका असर ये हुआ कि पंकज की कुछ कहानियाँ टीवी रिपोर्टर के कामकाज के अबूझ से तरीकों पर भी बना दी गईं। जिसे पढ़कर कभी हम नाराज़ हुए तो कभी खूब हँसे।

पंकज का पत्रकार जब पूरा विकसित हुआ तो किसानों की आत्महत्याओं पर बेजोड़ उपन्यास सामने आया 'अकाल में उत्सव'। इस उपन्यास में किसानों की कठोर ज़िंदगी जिसमें प्रकृति और प्रशासन की दोहरी मार पड़ती है, उसका ऐसा चित्रण किया कि लगा कि सीहोर के पास के गाँव में आप पूरे वक्त किसी परिवार की मीठी मालवी सुनते हुए घूम रहे हो और जब गाँव के उस परिवार के कभी ना खत्म होने वाले दुख से मन भर आता हो, तो उसके बाद सीहोर के कलेक्ट्रेट यानी की कलेक्टर के दफ़्तर में चलने वाली राजनीति के आप हिस्से हो जाते हो। कलेक्टर की कोटरी की पंचायत और कलेक्टर की हर हाल में जय बोलने वाली प्रशासनिक अफ़सरों की जमात के दाँवपेंच बहुत करीब से इस उपन्यास में दिखते हैं, हम शहर में बैठे लोगों को तब पता लगता है कि ज़िले में प्रशासन या सरकार कैसे चलती है। लंबे समय बाद किसी ने गाँव के किसान की जानलेवा परेशानियाँ तथा क़र्ज़ में डूबे किसान की आत्महत्या का इतने मार्मिक तरीके से ज़िक्र किया। नतीजा ये रहा कि 2016 में आए इस उपन्यास के ढाई सालों में ही दस संस्करण छप गए और कई एमफिल और पीएॅच.डी का ये हिस्सा भी हो गया।

मशहूर व्यंग्यकार डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी ने इस उपन्यास के बारे में कहा था कि ये उपन्यास क्लासिक बनते-बनते बड़े करीब से चूक गया। तो अब चुनौती फिर एक दफा क्लासिक रचने की थी और पंकज तीन साल की मेहनत के बाद लेकर आए हैं फिर फ़ैज़ की ग़ज़ल से लिए शीर्षक 'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था'। आमतौर पर अब उपन्यास के कंटेंट से ज़्यादा कवर पर मेहनत की जाती है मगर पंकज यहाँ उल्टे चले। आगे पीछे के काले कवर के कलेवर वाले इस उपन्यास में हमारी सभ्यता की वो काली सच्चाईयाँ हैं जो किसी ना किसी रूप में आज भी जारी हैं। ये कड़वी सच्चाई है धर्म से जुड़ी हुईं। इस उपन्यास का सार यही है कि अब तक दो विश्वयुद्धों में लोगों की जितनी जानें नहीं गईं होगीं उससे कई गुना ज़्यादा लोग धर्म से जुड़े क्रुसेड या धर्म के लिए की गई लड़ाईयों में मारे गए हैं और मारे जा रहे हैं। धर्म की रक्षा से जुड़े इस युद्धों और झगड़ों में जान गँवाने के बाद मज़े की बात ये है कि सारे धर्मों का सार या कहानियाँ आपस में एक-दूसरे से बहुत मिलती-जुलती हैं।

पंकज ने सीहोर के सांप्रदायिक तनाव की पृष्ठभूमि में सांप्रदायिक सद्भाव की कहानी बुनी और सभ्यता की शुरूआत से शुरू हुए सारे धर्मों की सारगर्भित बात से लेकर भारत पाकिस्तान के बँटवारे की सच्चाई भी आसान ओर सरल शब्दों में उकेर कर रख दी। यहूदी, ईसाई, मुसलमान, पारसी और हिन्दू धर्मों के इतिहास उनकी समानताएँ और विवाद कहानी के साथ-साथ चलते हैं और धर्म क्यों इतना प्रिय और क्यों इतना जानलेवा है, ये इस उपन्यास को पढ़ते-पढ़ते पाठक आसानी से समझ जाता है। पंकज ने कथानक पर मेहनत करने के साथ-साथ धर्मों के इतिहास को जिस तरह से खँगाला है वो इस मायने में सार्थक है कि इन सारे धर्मों का इतिहास, मान्यताएँ एक जगह पढ़ने को मिल जाते हैं। इश्क़, मोहब्बत की कहानियाँ लिखने वाले पंकज ने धर्म के बर्र के छत्ते में हाथ डालकर साहस का परिचय दिया है वो लीक से हटकर चले हैं। फ़ैज़ का पूरा शेर इस प्रकार है- ''न रहा जुनून-ए-रुख़-ए वफा ये रसन ये दार करोगे क्या, जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था वो गुनहगार चले गए।

तो पंकज ने गुनाह तो कर दिया है मगर पाठकों को इस उपन्यास पर नाज़ होगा ये हम मानते हैं। लगातार तीन अच्छे उपन्यास लिखकर मेरी नज़र में अज़हरुद्दीन तो वे बन ही गये हैं।

आमतौर साहित्य के कार्यक्रमों में हम पत्रकारों को मौका कम ही मिलता है। ये भी

मेरे लिए प्रसन्नता का मौका है इसके लिए स्पंदन की उर्मिला शिरीष जी को धन्यवाद। ये मेरे लिये यादगार क्षण है कि मेरे मित्र ओर प्रकाशक पंकज सुबीर का ये तीसरा उपन्यास है और पिछले दो उपन्यास की तरह मुझे इस तीसरे उपन्यास पर भी बोलने का मौका मिल रहा है। पंकज को मुझसे पहले मेरी माँ और पत्नी इनको जानती थीं मधुरिमा में छपने वाली इनकी चर्चित कहानियों के चलते। मगर मैंने इनको अच्छे से जाना इनके पहले उपन्यास 'ये वो सहर तो नहीं' के बाद। कथ्य और कहन की दृष्टि से वो ग़ज़ब उपन्यास था। एक साथ दो कालखंडों की कहानियाँ चलती रहती थीं। उस वक्त का अंग्रेज़ों के ज़माने का रेज़ीडेंट और आज के ज़माने के कलेक्टर में खूब समानताएँ तलाशकर पंकज ने बहुतों को अपना दुश्मन बनाया। मगर पंकज पत्रकार भी रहे हैं तो वो जानते हैं कि लिखने का मज़ा तभी है जब वो कहीं जाकर धँसे।

ख़ैर उस उपन्यास के लिए पंकज को ज्ञानपीठ का नवलेखन पुरस्कार भी मिला। और उस पुरस्कार को सही साबित किया पंकज के दूसरे उपन्यास 'अकाल में उत्सव' ने। 'अकाल में उत्सव' पर आयोजित कार्यक्रम में मुझे बोलने का अवसर मिला था। मगर मुझे याद है यहाँ पर आए डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी ने कहा था कि 'अकाल में उत्सव' बेहतर उपन्यास है मगर क्लासिक बनते-बनते रह गया। क्लासिक क्यों नहीं बना इसकी उन्होंने लंबी व्याख्या की थी। उन्होंने एक पंक्ति और कही थी कि अब पंकज के सामने खड़ी चढ़ाई शुरू हो गई है। तो मुझे लगता है कि पंकज ने अपने नए उपन्यास 'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पर नाज़ था' की बदौलत वो सीधी चढ़ाई चढ़ने की कोशिश की है। क्लासिक न बन पाने की उस कसक को दूर करने का प्रयास किया है।

पहली नज़र में काले रंग में रँगा ये उपन्यास थोड़ा अजीब-सा लगता है। शीर्षक भी एक बार में आम पाठक को समझ नहीं आता। किताब की फोटो भी खोई आँखों के ईसा मसीह की है। कुल मिलाकर शीर्षक और कवर से कुछ भी समझ नहीं आता कि उपन्यास कैसा होगा। मगर पंकज को पढ़ने वाले जानते हैं कि वो कुछ भी नासमझी में नहीं करते। यही आशा इस उपन्यास को पढ़ने को मजबूर करती है और फिर जैसे-जैसे आप पढ़ते जाते हैं किताब में डूबते जाते हैं। दुनिया के सारे धर्मों से लेकर हमारे देश के आज़ादी के आंदोलन के नायकों के मतभेद से लेकर आज शहर, मोहल्लों में फैल रही सांप्रदायिकता तक का दर्शन आपको इस उपन्यास में होता जाएगा। मगर ये उपन्यास धर्म और राजनीति पर ही नहीं है। इसमें गुँथी गई है एक ऐसी कहानी जो आपको पूरे वक्त रोमांचित रखती है। एक शहर में दंगा भड़क उठा है। और एक अल्पसंख्यक परिवार उस दंगे में फँसा है जिसके घर में गर्भवती महिला की तबियत बिगड़ रही है। प्रशासन उस परिवार की मदद कर रहा है मगर दंगाई भारी पड़ रहे हैं, क्योंकि आजकल दंगाईयों को पीटना भी गुनाह होता है। ऐसे में भोपाल से मदद आ रही है और उस दरम्यान उपन्यास का नायक रामेश्वर धर्म और राजनीति के किरदारों से बात करता रहता है। ईसाई, यहूदी, मुस्लिम पारसी, हिंदू, जैन, बौद्ध के उपदेशों के अलावा वेद, कुरान, हदीस, बाइबिल, रामायण सब की बातें इस उपन्यास में बातचीत के अंदाज़ में सामने आती रहती हैं। एक ही उपन्यास में इतने सारे धर्मों की बातें सरल तरीके से सामने रखने की जो कोशिश पंकज ने की हो वो तारीफ़ के लायक है; क्योंकि इन सब बातों के लिए लंबा अध्ययन आपने किया होगा ये हम लिखने वाले जानते हैं।

इस किताब को पढ़कर कहीं-कहीं रजनीश याद आते हैं क्योंकि उनकी किताबों में ऐसे एक साथ धर्म और क़िस्से पढ़ने मिलते हैं। आज़ादी की लड़ाई और धर्म के नाम पर हुए बँटवारे के बातें भी जिन्ना और गांधी के माध्यम से सामने आती है। इसी किताब में एक जगह जिन्ना आरोप लगाते हैं कि ख़िलाफ़त आंदोलन में शामिल होकर गांधी ने अल्पसंख्यकों की राजनीति को बढ़ावा दिया और जब बहुसंख्यकों की राजनीति करनेवाला दल आएगा तो कांग्रेस मिट जाएगी, ये सच्चाई हम इन दिनों देख रहे है। मगर इस किताब की जो खास बात जो मुझे लगी वो ये कि हमारे आपके शहरों क़स्बों और गाँवों में धर्म के नाम पर जो बँटवारा किया जा रहा है उसका बेजोड़ चित्रण है। हमें आपको अहसास दिलाया जा रहा है कि हम हिंदू और वो मुसलमान है तो हम कैसे एक साथ मिलकर रह सकते हैं। अल्पसंख्यकों के नाम पर डराने और धमकाने का खेल कौन खेल रहा है। शहर में हिन्दू-मुसलमान तनाव कौन भड़का रहा है। इससे किसको फ़ायदा हो रहा है ये सारी बातें जो हम आज सब देखते हैं और उनको वाट्सअप पर लिखने से भी डरते हैं, उनको पंकज ने अपने इस तीन सौ पन्ने के उपन्यास में खुलकर लिखा है। तभी मेरी नज़र में ये साहसी उपन्यास है जो इस दौर को समझने के लिये ज़रूरी है। पंकज ने इस उपन्यास को लिखकर हिम्मत का काम किया है तभी जयप्रकाश चौकसे जी ने इस उपन्यास पर कुछ टिप्पणी करने से इनकार करते हुए पंकज को भी सतर्क रहने की हिदायत दी है। मगर लिखने और उस पर पिटने के अपने मज़े हैं वो भी कभी-कभी लेना चाहिए। कथ्य और कथानक की दृष्टि से आँखें खोल देने वाला साहसिक प्रयास है। जब सांप्रदायिकता पर लोग कुछ कहने और अपने आपको व्यक्त करने से बचते हैं, उस दौर में इस साहसिक उपन्यास लिखने वाले पंकज बधाई के पात्र हैं।

पंकज अच्छे कहानीकार हैं ये इस उपन्यास में जो कहानी चलती है, उससे पता चलता है। धर्म और राजनीति की आँखें खोल देने वाली बातों के अलावा पाठक उस कहानी का इंतज़ार करता है। कहानी की हैप्पी एंडिंग सांप्रदायिकता की आग में ठंडक पहुँचाती है। पंकज के पिछले दो उपन्यासों के मुकाबले इस बार उन्होंने प्रशासन को सहृदय बताया है ये बदलाव क्यों और कैसे हुआ सोचना पड़ेगा। मैं उम्मीद करता हूँ कि इस उपन्यास को लिखने के बाद पंकज की गिनती उस हिम्मती लेखक के रूप में ज़रूर होगी जिसने बिना किसी की परवाह किए आज के दौर का सही चित्रण किया। पंकज की किताब पर मैं इन पंक्तियों से बात खत्म करूँगा।

सूरज सी इक चीज़ तो हम सब देख चुके,

सचमुच की अब कोई सहर दे या अल्लाह...

कविता वर्मा

(युवा कथाकार, उपन्यासकार)

धर्म इस दुनिया को सताने का सबसे महत्त्वपूर्ण जरिया है और धर्म ही है जिसके बिना जीना आम आदमी के लिए मुश्किल भी है। धर्मों की आपसी लड़ाई क्यों किसलिए, क्या हासिल, जैसे तमाम प्रश्न हैं जो युवावस्था में परेशान करते हैं या उन्हें परेशान करते हैं, जो इससे उपजी असहज स्थितियों के बारे में सोचते हैं। सच तो यह है कि धर्म ऐसा विषय है जिस पर कभी कोई संतुष्ट करने वाला जवाब नहीं मिलता। 'जिन्हें जुर्म-इश्क़-पे नाज़ था' पंकज सुबीर का उपन्यास ऐसी ही भावभूमि पर रचा गया है और इसने वर्तमान से इतिहास में जाकर कुछ कठिन प्रश्नों को ढूँढ़ने की कोशिश की है ताकि भविष्य में एक निर्मल धारा को बचा कर रखा जा सके।

रामेश्वर एक कोचिंग क्लास संचालक के दोस्त शमीम का बेटा शाहनवाज़ जिसे उसके पिता ने रामेश्वर के हवाले कर दिया ताकि वह सांप्रदायिक ज़हर से उसे बचा सके। यह लड़का शाहनवाज़ अपने पूर्वाग्रह के साथ रामेश्वर के साथ तो है लेकिन बेहद असहज है। उसके दिमाग़ में कही-सुनी बातों का ज़हर है जो आँखों-देखी के साथ अपना असर मद्धिम करते-करते उसे एक संवेदनशील इंसान में बदलता जाता है। यह सफ़र आसान नहीं होता, इसमें कई असहज, अपमानजनक स्थितियाँ दस्तक देती हैं; उनका सामना करते हुए एक कच्ची-मिट्टी के घड़े को थाप कर किस तरह सँवारा जाता है यह जानना दिलचस्प है।

कस्बे में दंगा हो जाता है मुस्लिम बस्ती में घिरे शाहनवाज़ के परिवार को बचाने की जद्दोजहद में समाज के कुछ कट्टर किरदार अपनी सोच के साथ आगे आते हैं, तो कुछ भटके हुए युवा भी ज़िंदगी को करीब से देखते हैं। दंगों के पीछे का सच दबी हुई इंसानियत को जगाता एक अध्यापक, पुलिस-प्रशासन की मुश्किलें और इन सबके साथ इतिहास में जाकर कुछ बेहद चर्चित ज़िम्मेदार और विवादास्पद व्यक्तियों की ज़ुबानी उनकी कहानी सुनना उपन्यास को अलग पायदान पर ले जाता है। सबसे अच्छी बात यह है कि यहाँ किसी व्यक्ति को महिमामंडित करने की कोशिश नहीं की गई है और सही-ग़लत पाठक के विवेक पर छोड़ा गया है। पृष्ठ भूमि में बहुत से किरदार अपनी-अपनी उलझनों के साथ प्रकट होते हैं, मनोवैज्ञानिक तरीके से उनकी उलझनों को सुलझाने की कोशिश की गई है।

हालाँकि कहीं-कहीं रामेश्वर का चरित्र असंभव आदर्श-सा लगता है लेकिन सुखद परिणाम इसे नज़रअंदाज़ कर देते हैं। दंगों के कारण दंगाइयों की मानसिकता, उन्हें काबू करते प्रशासन की सोच से उपजा तनाव, दंगों में फँसी प्रसव वेदना से जूझती शाहनवाज़ की पत्नी हिना की चिंता में पाठकों को डाल देती है। कहीं-कहीं कुछ दोहराव है जिससे बचा जा सकता था। उपन्यास की भाषा सहज सरल है। फ़ैज़ अहमद फ़ैज़ के मशहूर शेर से लिया गया शीर्षक मौजूं है। उपन्यास पठनीय है।

दिनेश पाल

(शोधार्थी, इलाहाबाद विवि)

प्रेमचन्द के बाद हिन्दी कथा साहित्य में पंकज सुबीर कई अर्थों में भिन्न हैं, अपने समकालीन कथाकारों में सुबीर की कथा प्रकृति और वैचारिकता भिन्न स्वर की है। पंकज सुबीर सामाजिक द्वंद्व और सरोकारों की अहमियत के दौर में प्रयोग कर्ता के रूप में नज़र आते दिखाई पड़ते हैं।

उपन्यास 'जिन्हें जुर्म-ए-इश्क़ पे नाज़ था' सुप्रसिद्ध उपन्यासकार पंकज सुबीर का नया उपन्यास है। यह उपन्यास 'ये वो सहर तो नहीं', 'अकाल में उत्सव', के बाद तीसरी सबसे बड़ी उपलब्धि है जो कठिन समय में बेहद ज़रूरी बातें बहुत बेबाकी से कहता है।

इस उपन्यास में पंकज सुबीर ने दिखाया है कि दुनिया को धर्म ने इस तरह जकड़ रखा है कि व्यक्ति इसके ऊपर सोच ही नही सकता। भारत में धर्म की वजह से आए दिन हिन्दू-मुस्लिम रिश्तों में दरार पड़ती है। धर्म की वजह से ही भारत का विभाजन हुआ है और आए दिन हिन्दू-मुस्लिम के बीच होने वाले साम्प्रदायिक दंगों के चलते तथा उसके बाद निर्मित होने वाली अविश्वास वाली ख़राब स्थिति के कारण इतिहास भी प्रभावित होता है।

उनका नवीन उपन्यास वर्तमान समय के साम्प्रदायिक असहिष्णुता से भरे माहौल में काफी ज़रूरी-सा लगता है। धर्म जो बेहद निजी और अन्तर्मन का विषय है। उसके नाम पर होने वाली सियासत और साम्प्रदायिक सौहार्द को बिगाड़ने की किस तरह कोशिश की जाती है और उसका आम जन पर क्या असर पड़ता है। लेखक पंकज सुबीर ने ऐतिहासिक और प्रमाणिक तथ्यों के आधार पर हर धर्म की जो व्याख्या की है, वह धर्मान्ध लोगों की आँख खोलने के लिए काफी है। उपन्यास में रामेश्वर और छात्र शाहनवाज़ के बीच संवाद हैं। आज़ादी के बाद कैसे-कैसे धर्मान्धता बढ़ी और उसका असर शहर, मोहल्ले और घर तक हुआ, वह इसमें दिखाई देता है। लेकिन जैसे धर्म के प्रति कट्टर लोग भी हैं, उसी तरह इन्सानियत और सर्वधर्म को सम्मान देने वाले लोग भी हैं। रामेश्वर एक ऐसे ही शिक्षक हैं और उनके द्वारा तैयार किए गए कई शिष्य हैं। जो उनके प्रभाव में आने के बाद में धार्मिक कट्टरता को छोड़ चुके हैं। ऐसे में जब क़स्बे से दूर बसी बस्ती में दंगा होता है तो रामेश्वर के शिष्य, कलक्टर वरुण कुमार, सरकारी अधिकारी भारत यादव समेत कई लोग मिलकर स्थिति को नियन्त्रण में करते हैं। इस उपन्यास की भाषा सहज, सरल और बोधगम्य होने से हर वर्ग का पाठक इसे सहजता और सरलता से समझ सकता है। इस उपन्यास में एकदम नवीन भाषाशैली प्रयोग देखने को मिलता है, जो पाठक वर्ग के अन्तर्मन को झकझोर देता है।

000

शिवना प्रकाशन की सम्मानित / पुरस्कृत पुस्तकें

सभी सम्मानित लेखकों को बधाई और शुभकामनाएँ

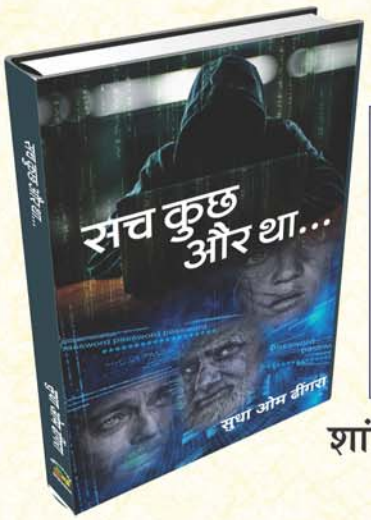

सच कुछ और था
सुधा ओम ढींगरा

शांति-गया स्मृति प्रवासी रत्न सम्मान, भोपाल

अकाल में उत्सव
पंकज सुबीर

आचार्य निरंजननाथ सम्मान
सिद्धनाथ कुमार स्मृति सम्मान
शांति-गया स्मृति शिखर सम्मान

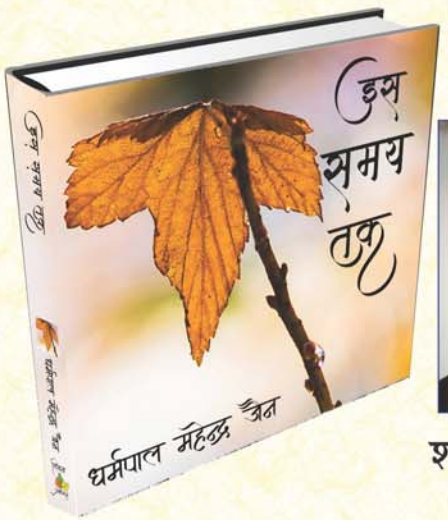

इस समय तक
धर्मपाल महेन्द्र जैन

शांति-गया स्मृति कृति सम्मान, भोपाल

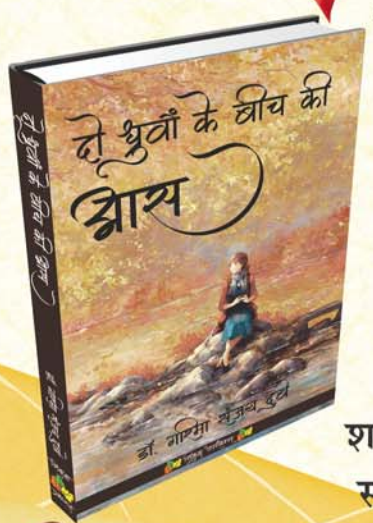

दो ध्रुवों के बीच की आस
डॉ. गरिमा संजय दुबे

शब्द प्रवाह प्रमोद शिरढोणकर स्मृति कहानी सम्मान, उज्जैन

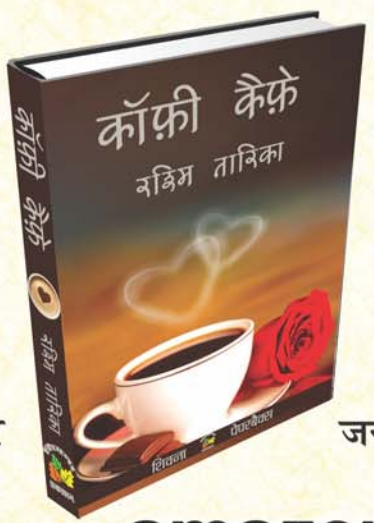

कॉफ़ी कैफ़े
रश्मि तारिका

जनार्दन प्रसाद खरे स्मृति सम्मान, भोपाल

शिवना प्रकाशन

शिवना प्रकाशन, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने सीहोर, मध्य प्रदेश 466001
फोन : 07562-405545, 07562-695918
मोबाइल : +91-9806162184 (शहरयार)
ईमेल : shivna.prakashan@gmail.com
http://shivnaprakashan.blogspot.in
https://www.facebook.com/shivna.prakashan

शिवना प्रकाशन की पुस्तकें सभी प्रमुख ऑनलाइन शॉपिंग स्टोर्स पर

amazon http://www.amazon.in
flipkart.com http://www.flipkart.com
paytm https://www.paytm.com
ebay http://www.ebay.in

दिल्ली में पुस्तकें प्राप्त करें : हिन्दी बुक सेंटर, 4/5 आसफ अली रोड
फोन : 011-23286757 http://www.hindibook.com

शिवना प्रकाशन - नई पुस्तकें

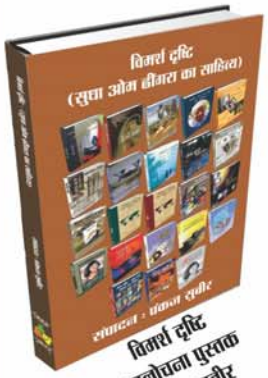

विमर्श दृष्टि
आलोचना पुस्तक
पंकज सुबीर

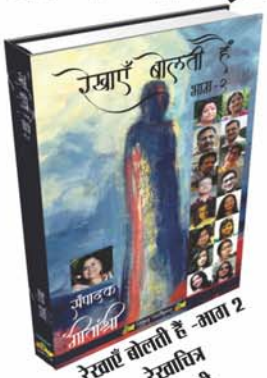

रेखाएँ बोलती हैं -भाग 2
रेखाचित्र
गीताश्री

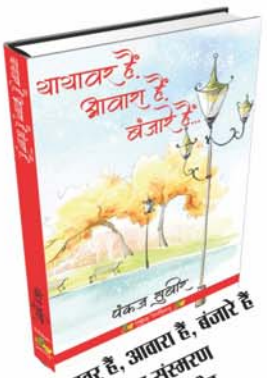

यायावर हैं, आवारा हैं, बंजारे हैं
यात्रा संस्मरण
पंकज सुबीर

फ़रहाद नहीं होने के
ग़ज़ल संग्रह
नुसरत मेहदी

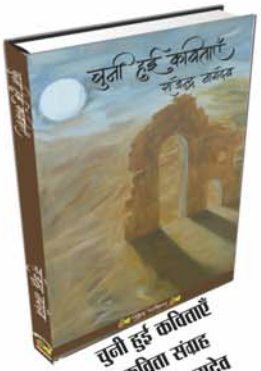

चुनी हुई कविताएँ
कविता संग्रह
राजेन्द्र नागदेव

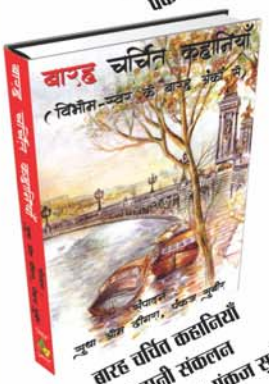

बारह चर्चित कहानियाँ
कहानी संकलन
सुधा ओम ढींगरा, पंकज सुबीर

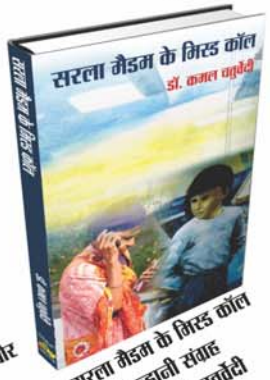

सरला मैडम के मिस्ड कॉल
कहानी संग्रह
डॉ. कमल चतुर्वेदी

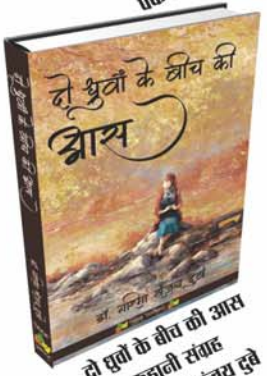

दो ध्रुवों के बीच की आस
कहानी संग्रह
डॉ. गरिमा संजय दुबे

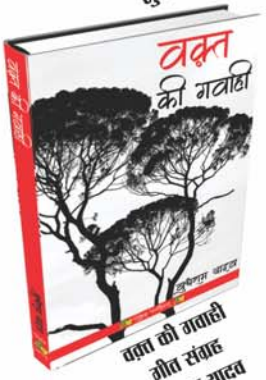

वक़्त की गवाही
गीत संग्रह
बुधराम यादव

खुद से जिरह
विनोद डेविड (कविता संग्रह)

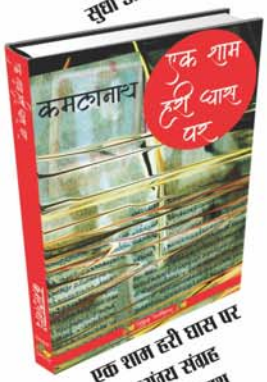

एक शाम हरी घास पर
व्यंग्य संग्रह
कमलानाथ

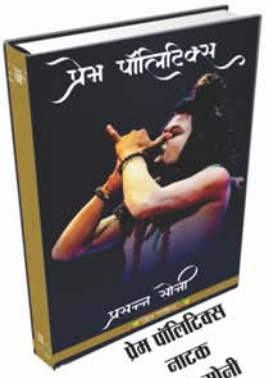

प्रेम पॉलिटिक्स
नाटक
प्रसन्न सोनी

कार्यस्थल पर यौन उत्पीड़न
क़ानून शोध
शहरयार अमजद ख़ान

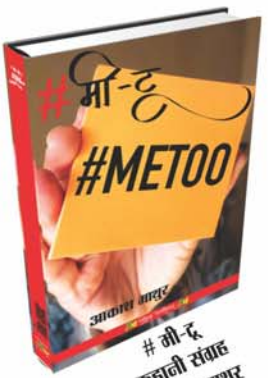

मी-टू
कहानी संग्रह
आकाश माथुर

सुख चालाक है
सरोजकुमार (कविता संग्रह)

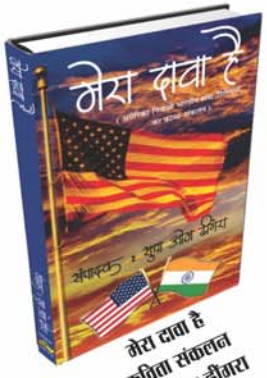

मेरा दावा है
कविता संकलन
सुधा ओम ढींगरा

कुबेर
उपन्यास
डॉ. हंसा दीप

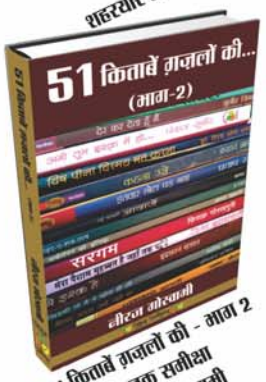

51 किताबें ग़ज़लों की - भाग 2
पुस्तक समीक्षा
नीरज गोस्वामी

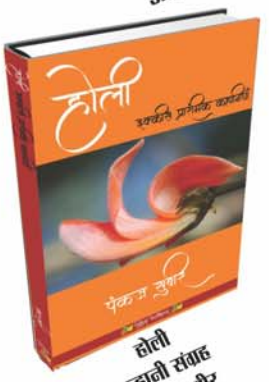

होली
कहानी संग्रह
पंकज सुबीर

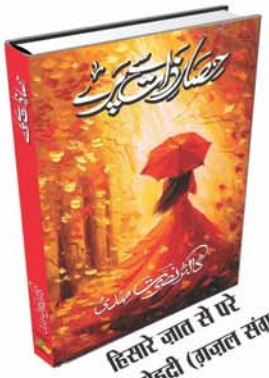

हिसारे जात से परे
नुसरत मेहदी (ग़ज़ल संग्रह)

If Undelivered Please Return to :
P. C. Lab, Shop No. 3-4-5-6, Samrat Complex Basement, Opp. Bus Stand, Sehore, M.P. 466001
Phone 07562-405545, 07562-695918, Mobile 09584425995, 07828313926, 09806162184

स्वत्वधिकारी एवं प्रकाशक पंकज कुमार पुरोहित के लिए पी. सी. लैब, शॉप नं. 3-4-5-6, सम्राट कॉम्प्लैक्स बेसमेंट, बस स्टैंड के सामने, सीहोर, मध्य प्रदेश 466001 से प्रकाशित तथा मुद्रक ज़ुबैर शेख़ द्वारा शाइन प्रिंटर्स, प्लॉट नं. 7, बी-2, क्वालिटी परिक्रमा, इंदिरा प्रेस कॉम्प्लैक्स,ज़ोन 1, एम पी नगर, भोपाल, मध्य प्रदेश 462011 से मुद्रित।